रंगीन पर्दा

लेखिका

हीरादेवी चतुर्वेदी

[भूतपूर्व सम्पादिका 'मनोरमा']

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड,

प्रयाग

१९५२]

[मूल्य १॥)

अपनी बात

एकांकी नाटक ने आज हिन्दी साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। यद्यपि इसका इतिहास केवल दो युगों का है, फिर भी इसने अपनी नवीनता और उपयोगिता के कारण सभी को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है। आजकल हमारा जीवन इतना व्यस्त हो उठा है कि हम कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक मनोरंजन करना चाहते हैं। इस दृष्टि से उपन्यास का स्थान जहाँ संक्षिप्त कहानी ले बैठी, वहाँ नाटक का स्थान एकांकी ले बैठा।

लघु कथा जहाँ मानव-जीवन की तीव्र अनुभूतियो के आवरण के साथ हमारी संवेदनशीलता पर करारी चोटकर हमें झकझोर देती है, वहाँ एकांकी हमारे जीवन की घटनाओं और समस्याओं को दृश्य-रूप में उपस्थित कर हमारे मर्म को छू लेता है, हमारी आन्तरिक प्रवृत्तियों और मनोवृत्तियों पर चुपचुप चोट कर देता और हमारा यथार्थ रूप प्रकट कर देता है।

हिन्दी के यशस्वी और सफल एकांकीकार डा० रामकुमार वर्मा ने आज के एकांकी के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है—'आज का एकांकी नाटक जीवन की रेखाओं में रंग भरकर घटना या पात्रों के माध्यम से एक विशिष्ट संवेदना पर अँगुली रखना चाहता है। वह संवेदना चाहे इतिहास की हो, राष्ट्र की हो, धर्म की हो, समाज की हो या परिवार की हो। जीवन के साधारण-से-साधारण धरातल पर उतरकर वह सत्य को छेड़ देती है और जीवन के विस्तृत आकाश में विद्युत बनकर समा जाती है। सत्य के तार पर वह अँगुली की एक चोट है, जिससे जीवन का संगीत गूँजता है और तार की पतली रेखा से निकलकर समस्त दिशाओं को मुखरित कर देता है।'

एकांकी में एक ही दृश्य का बन्धन मैं नहीं मानती। ऐसे एक ही दृश्य की क्या सार्थकता हो सकती है, जो पाँच-छः .दृश्य-परिवर्त्तनों को अपने-आपमें समेट ले? फिर, एक ही दृश्य में कुछ एकांकीकार जब स्पष्टतः दृश्य-परिवर्त्तन भी दिखलाते हैं, तब उसमें आवश्यकतानुसार दूसरे, तीसरे आदि दृश्यों का विभाजन क्यों न हो?

एकांकी की कथावस्तु एक निश्चित लक्ष्य को लेकर चलती है। स्थान और काल की एकता का निर्वाह करते हुए एकांकी का रूप सयत और मर्मस्पर्शी होता है। अभिनय की सफलता समेटे हुए रंगमंच की स्वाभाविकता का समावेश एकांकी की अपनी विशेषता होती है।

'रंगीन पर्दा' में मेरे नौ एकांकी हैं। नहीं जानती, इनमें मुझे कहाँ तक सफलता मिली है। यह जानने-समझने की मुझे आवश्यकता भी नहीं। यह लेखा-जोखा लगाना तो विज्ञ आलोचकों का कार्य है। फिर भी, इन एकांकी नाटकों से यदि हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी का भण्डार सम्पन्न होने में, थोड़ी भी सहायता मिली, तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगी।

इलाहाबाद,
दीपावली, २००६

—हीरादेवी चतुर्वेदी

परिचय

श्रीमती हीरादेवी चतुर्वेदी कविता, कहानी और एकांकी नाटकों के क्षेत्र में मनोयोगपूर्वक सफलता का वरण करती हुई अग्रसर हो रही हैं। उनके तीन कविता-संग्रह 'मंजरी', 'नीलम' और 'मधुवन' प्रकाशित हो चुके हैं, जिनके गीत रेडियो द्वारा भी समय-समय पर प्रसारित हो रहे हैं। उनके कहानी-संग्रह 'उलझी लड़ियाँ' का हिन्दी-संसार ने आशातीत स्वागत किया है और सन् १९५१ में 'उत्तर प्रदेशीय सरकार के शिक्षा-विभाग द्वारा उस पर उन्हे ५००) पाँच सौ रुपये का पुरस्कार भी प्रदान किया जा चुका है। महिलाओं की श्रेष्ठ मासिक पत्रिका 'मनोरमा' की आप सम्पादिका भी रह चुकी हैं। आपके महिलोपयोगी निबन्धों का भी एक संग्रह 'घर की शोभा' प्रकाशित हो चुका है।

श्रीमती हीरादेवीजी के अब तक कई उच्च कोटि के एकांकी हिन्दी के प्रमुख पत्रों में प्रकाशित हो चुके हैं: १—रँगा सियार, सन् १९४६; २—भूल-भुलैयाँ, सन् १९४९; ३—मुँह दिखाई, सन् १९५०; ४—रंगीन पर्दा, सन् १९५१; ५—माटी की मूरत, ६—अदृश्य दीवार, ७—बड़ी बहू, ८—चिनगारी और ९—शंखनाद, सन् १९५२।

आपके एकांकी नाटक उच्च और मध्य वर्ग की नाना समस्याओं से सम्बद्ध हैं, जैसे सभ्य समाज में शिक्षितों का मिथ्याचार, गरीबों की यातनाएँ, सचाई, शील आदि गुणों के प्रति उनकी विरक्ति, सभ्यता की छाया में पनपनेवाली धोखेबाजी, तरुणाई के प्रवाह में की जानेवाली मूर्खताएँ, रोमांस के संसार में मधुरता के पीछे से झाँकनेवाली कुरूपता, मिथ्या दम्भ, छल-छन्द, मध्यम वर्ग का खोखलापन, सम्बन्धियों की पारस्परिक खटपट, साझे के व्यापार का दिवालियापन, नौकरों पर किए जानेवाले

अत्याचार आदि समाज के मिथ्या व्यवहारों की आप आलोचक हैं और उनकी यथार्थता प्रकट करना आपका ध्येय है। सभ्य जगत् की अनेक दुर्बलताओं के फोड़े पर आपने अँगुली रख दी है। इनके नाटकों में हम जीवन का वह पहलू पाते हैं, जिसके प्रति हम अनजान हैं। समाज का वह लड़खड़ाता पहलू आपने चित्रित किया है, जिसकी बुनियादें खोखली हो चुकी हैं।

श्रीमती हीरादेवी चतुर्वेदी के नाट्य जगत् में कहीं अमीरी की धूप है, तो कहीं गरीबी की छाया; एक ओर मंगल गीतों का स्वर गूँज रहा है, तो दूसरी ओर मातम मनाया जा रहा है; कहीं नौकर पीटे जा रहे हैं, तो कहीं उन्हें इनाम दिए जा रहे हैं। इनमें न केवल समस्या तथा रंगों की विभिन्नता है, वरन् नई-पुरानी भारतीय सभ्यता के संघर्ष का चित्रण भी है।

कई नाटकों में, जैसे 'माटी की मूरत' और 'मुँह दिखाई' में हीरा-देवीजी का विशुद्ध यथार्थ एवं जीवन-दर्शन प्रकट हुआ है। वे समाज के मिथ्या दिखावे के प्रति विद्रोही हैं। गरीबों, पीड़ितों, शोषितों के प्रति उनके हृदय में सहज स्नेह और सहानुभूति है। इन एकांकी नाटकों के द्वारा यथार्थ सामाजिक जीवन का एक आइना उन्होंने हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है। समाज के छल-छिद्र, विद्रूप एवं दुरभिसन्धि का यथार्थवादी चित्रण इनमें हुआ है।

"भूल-भुलैयाँ" में एक भावुक युवक अरुण का चित्रण है। उसका छापाखाना खूब चलता है; स्वयं पुस्तकें लिखता और छापता है; किन्तु प्रेस घाटे में चलने के कारण सम्बन्धियों से खटपट होती है। जिन सम्बन्धियों ने हाथ बटाया था, वही अरुण बाबू को दिवालिया बना देते हैं। छापाखाना बिकता है और अरुण बाबू बेकार हो जाते हैं। पैसा पास नहीं है। इसका मानसिक आघात उन्हें शिथिल कर देता है। अरुण के चरित्र में आदर्शवाद भर गया है, वह भावुकता का शिकार

है। वह पत्नी को डाक्टर के पास तक नहीं जाने देता। उसके विचारों की झाँकी इन वक्तव्यों से प्रकट होती है—

'दुनिया इसी का नाम है। कहीं धूप है, तो कहीं छाया। किसी के घर में मातम मनाया जाता है, तो किसी के घर में मंगल गीत गाए जाते हैं अथवा शहनाई बजती है। तुम यह आशा ही क्यों करती हो कि तुम्हारे घर में दुख, दर्द और अभाव है, तो सारी दुनिया सरदर्द मोल ले बैठे।

'...हम अपना कर्त्तव्य किए जाएँ; परन्तु दूसरों से उसके प्रतिफल की आशा न करें—भूलकर भी नहीं...

'ऐसा सुन्दर गीत गानेवाला इस दुनिया से भला क्या माँगेगा? और दुनिया उसे दे ही क्या सकेगी? यही बहुत है कि वह अपने मन की पीर दुनिया को सुना रहा है। यह जीवन सचमुच एक आँख-मिचौनी और यह दुनिया एक भूलभुलैयाँ है।'

दिल पर लगनेवाली चोट की दवा नहीं हो पाती। अरुण की मृत्यु हो जाती है। इस एकांकी का विषय मनोवैज्ञानिक है। अधिक भावुकता भी निन्द्य है; एक बड़ी कमजोरी है—यही दिखाना इष्ट है। इसके अतिरिक्त सम्बन्धियों के साथ व्यापार में हानि की सम्भावना, दुनिया का कठोर यथार्थवाद, जीवन की आँखमिचौनी और माया की भूल-भुलैयाँ का नग्न चित्रण किया गया है। चित्रण की दृष्टि से नाटक में तथ्य है, किन्तु संविधान का धरातल दुर्बल नजर आता है। अति भावुकता से मृत्यु होना, कथानक को शिथिल बनाता है।

"रँगा सियार" समाज में बाहर से चिकने-चुपड़े, पर अन्दर से धूर्त्त, धोखेबाज, युवतियों के भोलेपन का शिकार खेलते हुए एक रोमांटिक युवक के चरित्र को प्रकट करता है। इसका कथानक गठा हुआ है और कुशलता से निर्मित किया गया है। डा० रमेश रोमाण्टिक युवक है। वह शिक्षित युवतियों को बहकाकर विवाह करता है। कुछ दिन उनके साथ रहता है और फिर गायब हो जाता है।

इस नाटक में रोमांस की असफलता, अनैतिकता, मूर्खता और कुफल दिखलाए गए हैं। यह नाटक उन शिक्षिता रोमांटिक पढ़ी-लिखी मूर्ख स्त्रियों पर एक व्यंग्य है, जो यौवन की तरुणाई और अपने गुरुत्व की भावना से ऐसा धोखा खाती हैं कि आजीवन उससे मुक्त नहीं हो पातीं। इन रँगे सियारों से कुमारियों की रक्षा होनी चाहिए। रमेश का जो पत्र रमा को प्राप्त होता है, उससे वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती है :

"अब मैं वापस न आऊँगा; तुम आशा भी न करना। मैं अपने जीवन में यही खेल खेल रहा हूँ। पढ़ी-लिखी लड़कियों को बेवकूफ बनाना ही मेरा काम है। तरुणाई की लहरों पर बहकर तुम लोग विवेक खो बैठती हो न! उसी का लाभ मैं उठाता हूँ।"

यह नाटक भावुकता की हार और बुद्धिवाद की विजय का द्योतक है। हीरादेवीजी का यथार्थवाद केवल यथातथ्य चित्रण-मात्र नहीं है, वे उसमें आशावादिता का सम्मिश्रण कर देती हैं। यही कारण है कि जड़वाद के चित्रण के साथ, उसमें दुख, असफलता और उत्पीड़न के ताण्डव में भी आशा की ज्योति है। वे एक व्यावहारिक सुलझाव प्रस्तुत करती चलती हैं। उनका यथार्थवाद विनाशकारी और संहारकारी न होकर निर्माणकर्त्ता है।

इन एकांकियों का विषय घटनाओं की अपेक्षा चरित्र अधिक है। आचार को दृष्टि में रखकर कथानकों की सृष्टि की गई है। इनमें स्थिति-विशेष में किए गए विशेष कृत्यों के प्रदर्शन में नाट्यकर्त्री ने विशेष-दिलचस्पी ली है। "भूल-भुलैयाँ" के आदर्शवादी भावुक अरुण, उसकी पत्नी अलका, दर्शनशास्त्र के डाक्टर रमेश के व्यक्तित्व उनके अस्थि-मज्जा के शरीर और कृत्यों की रूपरेखा के अतिरिक्त हमारे मन पर कुछ स्थूल भाव छोड़ जाते हैं। इनमें से प्रत्येक पात्र एक विचार-विशेष का प्रतीक है। अरुण भावुकता की कमजोरी प्रदर्शित करता है, तो रमेश सभ्यता के छलछिद्र का प्रतीक है। रमा आधुनिक रंगीन

सभ्यता के रोमांस की मूर्खता का मूर्त्तिमान-स्वरूप है। अलका साधारण शिक्षा में आदर्श नारी का एक अनुकरणीय आदर्श है। इन पात्रों के अतिरिक्त गौण पात्र "रँगे-सियार" की सरला, कमला, "भूलभुलैयाँ" में अलका की सहेलियाँ सभी विचारपूर्ण प्रेरणाप्रद बातचीत करती हैं। हृदय और मस्तिष्क के इस पारस्परिक तानेबाने से इन समस्याओं को उभारा गया है। इनके पात्र घटनाओं और समाज से अलग होकर 'टाईप' बन जाते हैं। इन पात्रों के द्वारा नाट्यकर्त्री ने समाज के उतार-चढ़ाव को भी खोलकर रख दिया है। इन पात्रों में लेखिका का समाज के प्रति असन्तोषपूर्ण हाहाकार मुखरित हुआ है।

प्रारम्भ में आप कौतूहल की सृष्टि करती हैं। धीरे-धीरे एकांकी गति पकड़ता है और कथानक मध्य में खुलकर उसके अन्त तक पहुँचते-पहुँचते चरित्र-चित्रण की तीव्र और संक्षिप्त रूपरेखा खिंचती जाती है। अन्त होते-होते व्यंजनात्मकता और प्रभावशीलता बँट जाती है। आप जीवन की एकरूपता का, चरित्र के एक पहलू का ही अध्ययन प्रस्तुत करती हैं। उदाहरणार्थ 'रँगा सियार' शिक्षित धोखेबाजी और 'भूल-भुलैयाँ' भावुकता की निर्बलता का अध्ययन प्रस्तुत करता है। 'रँगा-सियार' में वर्णनात्मक तत्त्व कुछ अधिक हैं, 'भूल-भुलैयाँ' में अभिनयात्मक तत्त्वों का प्राचुर्य है। अभिनय की दृष्टि से दोनों ही सफल एकांकी हैं।

टैकनीक की दृष्टि से 'रँगा सियार', 'शङ्खनाद', चिनगारी' सफल एकांकी हैं। कम-से-कम दृश्यों में सम्पूर्ण कथानक को गुम्फित कर दिया गया है। प्रारम्भिक स्थल सरल सादे होकर आनेवाली मूल समस्या पर प्रकाश डालनेवाले हैं। 'भूल-भुलैयाँ' में जो कार्य प्रथम दृश्य से निकाला जाता है, वही 'रँगा सियार' में रमा तथा उसकी सहेलियों की प्रारंभिक बातचीत से पूर्ण किया गया है। 'भूल-भुलैयाँ' बड़े नाटक का संक्षिप्त संस्करण कहा जा सकता है।

हीरादेवीजी के एकांकी नाटकों में चरम सीमा अन्त में आती है।

हृदय पर एक तीखा आघात करते हुए एकांकी समाप्त होता है। प्रारम्भिक वार्तालाप से ही संविधान इस प्रकार गढ़ा जाता है कि घटनाएँ एक दूसरे की सहायता करती हैं। अन्त में एक अमिट प्रभाव उत्पन्न कर नाटक की इतिश्री होती है।

'भूल-भुलैयाँ' में यत्र-तत्र सांकेतिक प्रयोगों का भी आश्रय लिया गया है। दो प्रकार से प्रतीकों का उपयोग किया गया है। प्रथम तो रंगमंच की पृष्ठभूमि से बैकग्राउण्ड-गीतों के द्वारा एक विचार-विशेष का प्रतिपालन किया गया है। दूसरे वस्तुओं के द्वारा, जैसे 'भूलभुलैयाँ' में अलका घर का अन्धकार दूर करने के लिए दीपक जलाती है। दीपक जलाकर वह अपने जीवन-देवता की स्वास्थ्य-कामना करती है। इसी बीच में हवा का एक तेज झोंका आता है और दीपक बुझ जाता है। अलका को अपने पति के जीवन की आशंका हो जाती है।

हीरादेवीजी का कवि-हृदय दो नाटकों में बहुत उद्वेलित हुआ है। 'रँगा सियार' का वातावरण गम्भीर तथा तीखा होने के कारण वहाँ सरला केवल अभिनय के साथ गुनगुनाती भर है; किन्तु 'भूल-भुलैयाँ' में तीन मधुर गीतों का प्रयोग किया गया है। टैकनीक में हीरादेवीजी की एक विशेषता बैकग्राउण्ड से आता हुआ वह संगीत है, जो वातावरण की मूल भावना को प्रदीप्त करता है। प्रथम दो गीत मधुर प्रकृति की शोभा-श्री का निदर्शन करते हैं और अन्तिम गीत का प्रयोग प्रतीकात्मक है। अलका के पति के बचने की कोई आशा नहीं है। वह धड़ाम से फर्श पर कटे वृक्ष की भाँति गिर पड़ती है। पीछे से कोई व्यक्ति यह गीत गाता है :—

आँखमिचौनी जीवन की यह
सबको ही भरमाए।
भूल-भुलैयाँ माया की यह
सबको ही भटकाए।

श्रीमती हीरादेवी चतुर्वेदी की कविताएँ अपने गेय तत्व के कारण

बरबस हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेती हैं। उनकी कविताओं में जीवन-संगीत, कल्पना, अनुभूति और कोमलतर भावों की सरल, सादी अभिव्यंजना रहती है। भाषा बड़ी प्रौढ़ और परिष्कृत है।

आपके एकांकी नाटकों से निश्चित रूप से मा भारती का भाण्डार सम्पन्न हो रहा है। हम आपके इस एकांकी-संग्रह का स्वागत करते हैं।

हर्बर्ट कालेज,
कोटा (राजस्थान)

—(प्रो०) रामचरण महेन्द्र, एम० ए०

अनुक्रम

रङ्गीन पर्दा

पात्र-परिचय

हरीश—एक बुद्धिजीवी तरुण
सरला—हरीश की शिक्षित पत्नी
रत्ना—सरला की पुत्री
कमला—सरला की सहेली

पहला दृश्य

[हरीश के मकान का भीतरी कक्ष। दीवारों पर प्राकृतिक दृश्यों और गांधी, जवाहरलाल, राजेन्द्रप्रसाद आदि नेताओं के प्रभावोत्पादक भव्य चित्र। एक दीवार के निकट शृङ्गार-मेज। दूसरी दीवार के निकट एक पलँग, जिस पर साफ-सुथरा बिस्तर। पलँग पर सरला लेटी हुई है और उसकी बाजू में उसकी नन्हीं पुत्री रत्ना सो रही है। समय : दोपहर]

सरला—(धीमे स्वर में अपने-आप) चपत ! एक साधारण-सी चपत भी प्रलय मचा देती है ! क्रोधावेग में आज मैंने रत्ना को एक चपत क्या लगा दी, मानो किसी अप्रत्याशित आपत्ति को आमन्त्रण दे दिया। तो क्या माँ होकर मुझे यह भी अधिकार नहीं कि मैं अपनी पुत्री को एक चपत लगा सकूँ ?

[पलँग से उठकर टहलने लगती है]

—कितना बिगड़ उठे रत्ना के बाबूजी ! पचासों बातें मुझे सुना गए और स्वयं भूखे चले गये दफ्तर।

[बाहरी दरवाजे पर किसी के दस्तक देने की आवाज—खटखट-खटखट]

—कौन आ टपका इस वक्त ? चलो, नल पर चलकर पहले हाथ-मुँह धो लूँ; नहीं तो सारा चेहरा आँसुओं की बूँदों से ठीक वैसा ही दीखता होगा, जैसे प्रातः बेला में ओस-कणों से ओतप्रोत दूर्वादल।

(नल पर जाकर हाथ-मुँह धोना और तौलिया से पोंछना। उधर दरवाजे पर कुछ-कुछ सेकण्डों के अन्तर पर बराबर दस्तक और खट-खटाखट की आवाज)

—तनिक दम लो, बाबा ! आ रही हूँ ! (जाकर दरवाजा खोल देती है)

कमला—बाप रे ! बारह बजे दिन से ही इतनी बेखबर सो जाती हो,

दीदी ! (भीतर कदम बढ़ाते और मुसकराते हुए) मालूम पड़ता है, आजकल रात भर जागती रहती हो !

सरला—(सहन की ओर पग बढ़ाते हुए) तो यह कहो कि इस मुसकराहट के साथ आज तुम अपनी ही कहानी मुझे सुना रही हो, कमला ! रात भर जागने के दिन सदा साथ नहीं देते। हाँ, तुम्हारा समय निश्चय ही आजकल ऐसा चल रहा है।

कमला—(सरला के साथ बढ़ते हुए) समय कुछ भी चल रहा हो, दीदी; लेकिन मैं इतनी बेखबर होकर कभी नहीं सोती कि कोई ऐसा शक कर सके।

सरला—शक और आरोप की बात कभी रोकी नहीं जा सकती, कमला ! यह तो मानव की मनोदशा और परिस्थितियों से उत्पन्न होनेवाली एक लहर है।

[दोनों सहेलियों का सहन में प्रवेश]

कमला—अरे ! यह मैं क्या देख रही हूँ ! यह थाली तो रसोईघर के सामने जैसी-की-तैसी पड़ी है अब तक। क्या आज मेरे जीजाजी भोजन नहीं...?

सरला—(बीच में टोकते हुए) तुम्हारा अनुमान गलत नहीं है, बहिन ! आज वे बिना खाना खाए दफ्तर चले गये हैं।

कमला—यह क्यों, दीदी ?

सरला—मैंने अभी कहा था न, शक और आरोप की बात मानव की मनोदशा और परिस्थितियों से उत्पन्न होनेवाली एक लहर है। तुमने शायद मेरी इस बात पर ध्यान नहीं दिया।

कमला—(गम्भीर स्वर में) मैं क्या जानूँ दीदी कि मजाक के सिलसिले में तुम कोई गम्भीर बात कह रही हो। (सरला का एक हाथ अपने दोनों हाथों से दबाते हुए) अच्छा, चलो भीतरी कमरे में बैठकर बातें करें।

सरला—चलो, बहिन।

[भीतरी कमरे में दोनों सहेलियों का प्रवेश]

कमला—अरे ! आज यह रत्ना भी इतने जल्द सो गई। दो बजे से पहले तो यह कभी सोती नहीं थी। आखिर बात क्या है, दीदी; कुछ बतलाओ तो सही ?

सरला—कोई खास बात नहीं है, कमला ! बैठो तो सही।

[दोनों सहेलियाँ पलँग पर बैठ जाती हैं]

कमला—लो दीदी, यह बैठ गई। अब बताओ, क्या बात है ?

सरला—आज मेरा मन-पंछी सुदूर अतीत के निकुंजों में जा उड़ा, बहिन ! वे दिन मुझे याद आ गए, जब मेरे सिर में तनिक-सा दर्द हो उठता, तो मेरी स्नेहमयी माँ घर-गृहस्थी का सारा काम-काज भूलकर मेरे लिए चिन्तित हो उठती और तत्काल उपचार करने लगती थी।

कमला—माँ की ममता ऐसी ही होती है, दीदी ! लेकिन यथार्थ बात क्या है, यह तो तुमने बतलाया ही नहीं ?

सरला—सब बतलाती हूँ, बहिन ! तनिक धीरज के साथ यथार्थ बात की भूमिका भी तो सुन लो। हाँ, कभी-कभी मैं कह बैठती कि एक पुत्री के लिए इतना चिन्तित होना ठीक नहीं, माँ ! लेकिन माँ कह देती कि पुत्री की चिन्ता पुत्र से अधिक करनी चाहिए, बेटी ! कारण, पुत्र को तो जीवन भर इसी घर में रहना है; परन्तु पुत्री कुछ ही वर्षों की मेहमान होती है ! विवाह हो जाने पर ससुराल में फिर कौन उसकी इतनी परवा करेगा ?

कमला—लेकिन माँ की यह बात याद आने का कोई कारण अवश्य होगा, दीदी ?

सरला—क्यों, बिना कारण क्या माँ की किसी बात का स्मरण नहीं आ सकता, कमला ?

कमला—आ क्यों नहीं सकता, दीदी ! परन्तु मुझे यह लगता है कि आज तुम यथार्थता पर रंगीन पर्दा डालने की चेष्टा कर रही हो !

सरला—देखती हूँ कि तुम आज मुझे रुलाकर रहोगी !

कमला—रुलाकर नहीं, हँसाकर रहूँगी, दीदी ! तुम्हारा उतरा हुआ चेहरा, चौके में पड़ी हुई थाली, रत्ना का इतनी जल्दी सो जाना और माँ की बातों का याद आना—ये सारी बातें चीख-चीखकर कह रही हैं कि आज कहीं कोई-न-कोई व्यतिक्रम अवश्य हुआ है। मैं इस उलट-फेर को जानना चाहती हूँ, दीदी। और जानकर तुम्हारा दुःख दूर करने की चेष्टा भी करना चाहती हूँ।

सरला—तो चलो, सहन के निकटवाले कमरे में बैठकर मैं आज की घटना तुम्हें सुनाऊँ। इस कमरे में रत्ना सो रही है न! कहीं हमारी बातों से उसकी नींद न टूट जाए।

कमला—हाँ दीदी, चलो।

[दोनों सहेलियों का प्रस्थान]

... .

दूसरा दृश्य

[सहन के निकट एक कमरा। फर्श पर एक बड़ी-सी सुन्दर चटाई बिछी है। एक आलमारी के बीचवाले खण्ड में ग्रामोफोन और उसके रिकार्डों की पेटी रखी है। ऊपरी खण्ड में एक टाइमपीस टिकटिक कर रही है। दीवार पर इधर-उधर तरह-तरह के रङ्ग-बिरङ्गे तीन-चार कलैण्डर लटक रहे हैं।]

कमला—(चटाई पर बैठते हुए) हाँ दीदी, क्या घटना हो गई आज, जिसने तुम्हें इतना उदास बना दिया ?

सरला—बात बहुत छोटी है कमला, और बड़ी भी।

कमला—(बीच में ही टोकते हुए) दीदी, तुम पहेली ही बुझाती रहोगी या···?

सरला—अधीर क्यों हो रही हो, बहिन ? लो सुनो : आज भोजन परोसते समय रत्ना का मिजाज गर्म हो गया। किसी पुतलीघर के भोंपू क

तरह वह रोने-चिल्लाने लगी। जब प्यार से समझाने-बुझाने पर भी चुप न हुई, तो मैंने उसे एक चपत लगा दी। बस, यह चपत लगाना ही प्रलय हो गया, बहिन !

कमला—मैं समझ गई क्या हुआ होगा।

सरला—क्या समझ गईं, बतलाओ ?

कमला—यह देखकर रत्ना के बाबूजी नाराज होकर बिना भोजन किए दफ्तर चले गये होंगे।

सरला—यह तो ठीक है; परन्तु जाने के पहले पचासों बातें सुना डालीं मुझे।

कमला—यह तो साधारण बात है, दीदी ! पति-पत्नी में कभी-कभी खट-पट होना भी तो आवश्यक है न !

सरला—आवश्यक क्यों ?

कमला—इसलिए कि सदा मिठाई खानेवाला तब तक मिठाई की विशेषता नहीं समझ सकता, जब तक कि वह कभी कड़वी नीम न चबा ले। सदा सुखों में रहनेवाला सुख का वास्तविक मूल्य तब तक नहीं समझ सकता, जब तक कि उसे दुःख का भी सामना न कर लेना पड़े।

सरला—तुम्हारी बात कुछ अंशों तक ठीक है, कमला ! परन्तु मीठे स्वाद अथवा सुख का ठीक-ठीक अनुभव करने के लिए यह आवश्यक नहीं कि कड़वी वस्तु अथवा दुःख की इतनी गहरी मात्रा दे दी जाए कि अनुभव करनेवाला बेचैन हो उठे—तिलमिला उठे। यदि हमारे साथ ऐसा होता है, तो इसे मैं नारी की विवशता कहूँगी।

कमला—विवशता क्यों, दीदी ?

सरला—इसलिए कि पति जो कहे और जो समझे, वह सब ठीक। पत्नी की कैफियत वह सुनना ही नहीं चाहता।

कमला—आखिर सुनूँ तो सही, मेरे जीजाजी क्या कह रहे थे ?

सरला—कह रहे थे कि जब देखो, तब प्रलय मचा रहता है। भोजन भी तो शान्ति से नहीं कर पाता। जिस पेट के लिए आदमी दिन-दिन भर दफ्तरों में कलम घिसता है, दूसरों की लाल-लाल आँखें देखता-सहता है और अपमान के घूँट पीकर भी उसे काम करना पड़ता है, वह पेट भी तो इस गृहस्थी में शान्ति के साथ नहीं भर पाता। शरीर का खून जब खौलने लगा और दिमाग भन्ना उठा, तब भोजन करने से लाभ ही क्या? भाड़ में जाए यह गृहस्थी और भोजन।

कमला—यह सब उन्होंने खीझकर कहा है। इसमें ऐसी कोई बात नहीं, जिसे अनुचित कहा जा सके।

सरला—मैं भी मानती हूँ कि यह झल्लाहट थी। लेकिन यह सब बड़बड़ाते हुए जब वह थाली पर से उठ गए और दफ्तर की पोशाक पहनने लगे, तो मैंने समझाते हुए कहा, अनजान बच्ची तो यह सब समझती नहीं; परन्तु उसके रोने-चीखने से तुम अपना मन क्यों भारी कर लेते हो? चलो, भोजन कर लो, फिर दफ्तर जाना। परन्तु वह न माने और शब्द-बाणों से मुझे बेधने लगे।

कमला—शब्दबाण! मैं मानता हूँ दीदी, शब्दबाणों का घाव बड़ा गहरा लगता है। क्या कहा था जीजाजी ने?

सरला—यही कि अपनी सीख अपने पास रखो। यह ज्ञान-ध्यान पहले स्वयं सीखो, फिर दूसरों को सिखाना। यदि इतना सब समझती हो, तो क्यों न उसे पहले से ही चुप कर लिया? लेकिन चुप करना तो दूर, उसे एक चाँटा रसीद कर दिया! यह सब शायद इसलिए कि मैं रोटी बनाने के लिए कोई महराजिन नहीं रख सकता?

कमला—तो क्या तुमने कभी महराजिन रखने की बात कही थी, दीदी?

सरला—कहीं होती, तो मुझे इतना बुरा न लगता, कमला ! परन्तु उन्होंने अपने-आप यह धारणा बना ली और सुना भी डाली मुझे। पुरुष का इस प्रकार अपने-आप कुछ तो भी समझ लेना, नारी के प्रति बहुत बड़ा अन्याय है, बहिन !

कमला—तब तो सचमुच जीजाजी ने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया है, दीदी ! तुम कहो, तो मैं आज या कल जीजाजी से स्वयं यह चर्चा छेड़ूँ और उन्हें समझाऊँ ?

सरला—न बहिन, तुम भूलकर ऐसा न करना। इससे उनकी क्रोधाग्नि में आहुति पड़ जायगी। मेरी समझ में नहीं आता कि इधर कुछ वर्षों से इनका व्यवहार रुक्षता और विषमता में क्यों बदलता जा रहा है। अब तो बात-बात में वह चिल्लाने, झल्लाने और बरसने लगे हैं।

कमला—सुनते हैं, ऐसा ही होता है, दीदी। पुरुष का वही प्यार नारी को सदा सुलभ नहीं रहता, जो आरम्भ में मिलता है।

सरला—इसका कारण जानती हो, कमला ?

कमला—ऊँ हुँ !

सरला—मैं इसका जो कारण समझ सकी हूँ, वह यह है कि समय के अतिक्रमण के साथ नारी में जहाँ कुछ बातें पहले से अधिक विकसित हो जाती हैं, वहीं कुछ परिवर्तित भी हो जाती हैं। सेवा और कर्त्तव्य-परायणता का जहाँ विकास होता जाता है, वहीं उसके शरीर में एक शिथिलता आने लगती है—परिवर्त्तन की रेखाएँ उभरने लगती हैं। उसके अंग-प्रत्यंग में पहले की भाँति भराव नहीं रह जाता और आकर्षण भी उतना नहीं रह जाता।

कमला—लेकिन दीदी, यह शरीर क्या सदा किसी का साथ देता है ? जरा-जीर्ण होना तो इसका स्वाभाविक क्रम है—अनिवार्य लक्षण है न ! इसे कौन रोक सकता है ? तुम्हारी ही बात कहूँ कि चार-

पाँच बच्चों को जन्म देने के बाद भी तुम्हारा शरीर शिथिल न होगा, तो कब होगा ?

सरला—तुम ठीक कह रही हो, कमला। लेकिन...

कमला—लेकिन क्या, दीदी ? क्या तुम यह कहना चाहती हो कि पुरुष, नारी के मात्र रूप-रंग से प्रेम करता है—आत्मा से नहीं ? क्या वह कर्त्तव्य-परायणता, सेवा और आज्ञाकारिता से सन्तुष्ट न होकर, मात्र यौवन पर ही रीझता है ?

सरला—अवश्य यही बात होनी चाहिए, बहिन। यदि ऐसा न होता, तो हम दम्पति का पहले का स्नेह, आकर्षण और सरस वातावरण अक्षुण्ण न रहकर आखिर क्यों दिनो-दिन बदलता जा रहा है ?

कमला—लेकिन यह रंगीन पर्दा भी तो हो सकता है, जो यथार्थता को छिपा बैठता है। क्रोधावेग में ही जीजाजी शायद यह सब कह बैठते हों। कारण, वह इतने संकीर्ण विचारों के व्यक्ति नहीं हैं। भावुकता की लहरों पर वह सदा बहते रहते हैं, जो उन्हें कहीं-का-कहीं ले जाती हैं।

सरला—रंगीन पर्दा ! हाँ बहिन, मैं उनकी यथार्थता का दूसरा पहलू भी अच्छी तरह समझती हूँ। परन्तु क्रोधावेग हो या भावुकता की लहर, जब वह निर्ममता से इतना सब कह बैठते हैं, तब मुझे लगता है कि मेरे प्रति अब उनका आकर्षण कम हो रहा है।

कमला—दूसरा पहलू तुमने किस रूप में समझा है, मुझे न बतलाओगी, दीदी ?

सरला—यही कि तुम्हारे जीजा क्रोध से जितने लाल हो जाते हैं, स्नेह से उतने ही तरल-शीतल होकर छलक भी पड़ते हैं। यह मनोवैज्ञानिक रहस्य है। जो जितना ही सरल होगा—आत्मीयता प्रकट करनेवाला होगा, वह उतना ही कठोर, विषम और रुक्ष भी हो सकता है। भावुकता की लहर ऐसी ही होती है। भगवान् शङ्कर प्रसन्न होते हैं, तो भस्मासुर जैसे दानव को भी ऐसा वरदान दे

बैठते हैं कि वह उन्हीं को भस्म करने की चेष्टा करने लगता है, और क्रोधित होते हैं तो कोमल, सुखद और पुलक-प्रकम्प भरनेवाले कामदेव को भी क्षार कर बैठते हैं।

कमला—यह तो अच्छी बात है, दीदी; नहीं तो जीवन का एक-एक क्षण दूभर हो उठे।

[सहसा भीतरी कमरे रत्ना के रोने की आवाज]

सरला—मैं अभी आई, बहिन! आज यह रत्ना भी रोते-रोते भूखी सो गई है। इसीलिए शायद वह रो रही है।

कमला—तो उसे उठा लो दीदी, और भोजन करा दो।

सरला—भोजन तो अब शायद ही करे वह। हाँ, दूध पिलाने की चेष्टा अवश्य करती हूँ।

[सरला का प्रस्थान]

... ...

तीसरा दृश्य

[पलँग पर सोते-सोते रो उठनेवाली रत्ना के निकट जाकर सरला का उसके सिर पर हाथ फेरते हुए उसे पुचकारना।]

सरला—बेटी, तू भूखी क्यों सो रही है? उठ, दूध पी ले।

रत्ना—(आँखें खोलकर) बाबूजी के हाथ से दूध पियूँगी।

सरला—(तेज स्वर में) सुनो, कमला बहिन! यह रत्ना अपने बाबूजी के हाथ से दूध पिएगी।

[सरला की आवाज सुनकर कमला का आगमन]

कमला—क्या कहा, दीदी? मैं दूर थी न, सो सुन नहीं सकी।

सरला—यह रत्ना अब अपने बाबूजी के हाथ से दूध पीने की बात कह रही है।

कमला—बाप की लाड़ली बेटी है न! क्यों न कहेगी ऐसा!

सरला—(रत्ना को गोद में लेते हुए) लेकिन बेटी, तेरे बाबूजी दफ्तर गये हैं। दफ्तर से आ जायँ तो उनके हाथ से दूध पी लेना। अभी मेरे ही हाथ से पी लो।

कमला—रत्ना तो रानी बेटी है! वह अपनी माँ के हाथ से अभी दूध पी लेगी। पिएगी न, बेटी?

रत्ना—हाँ, पी लूँगी, मौसी!

कमला—ले आओ, दीदी, अब दूध।

सरला—मैं अभी लाई। (रत्ना को कमला के पास बैठाते हुए) अपनी मौसी के पास बैठ बेटी, मैं तेरे लिए दूध ले आऊँ।

कमला—(रत्ना को अपनी गोद में लेते हुए) आ बेटी!

[सरला का दूध लेने रसोईघर में जाना और एक प्याले में दूध तथा दो-तीन खिलौने लेकर लौटना।]

सरला—ले बेटी, पी दूध। और ये रहे तेरे कुछ खिलौने, सो इन्हें खेल।

[रत्ना दूध पीकर खिलौने खेलने में लग जाती है]

कमला—है तो रत्ना चतुर बेटी! देखो, कैसा मन लगाकर खिलौने खेलने लगी।

सरला—चतुर भी है और हठी भी।

कमला—अपने बाप की तरह न! (एक क्षण रुककर मुसकराती हुई) अच्छा दीदी, तुमने भी तो अब तक भोजन न किया होगा। दिन भर उपवास करना ठीक नहीं। चलो, तुम मेरे कहने से भोजन कर लो।

सरला—नहीं कमला, यह मैं न कर सकूँगी। वह भूखे चले जायँ और मैं भोजन कर लूँ?

कमला—लेकिन वे तो कहीं भी खा सकते हैं। दिन भर भूखे रहकर थोड़े ही काम करते रहेंगे दफ्तर में? और कुछ नहीं, तो मित्रों के आग्रह पर चाय-नाश्ता उन्हें स्वीकार करना ही पड़ेगा वहाँ।

सरला—मैं उन्हें अच्छी तरह जानती हूँ, बहिन ! वे हरगिज न खाएँगे-पिएँगे कुछ। दिन-भर पूरा-पूरा उपवास रखेंगे। उनका ऐसा स्वभाव नहीं कि मैं घर में भूखी बैठी रहूँ और वे बाहर कुछ खा-पी लें।

कमला—तब तो मुसीबत है, दीदी ! मैं तुम्हारी जगह होती, तो इस तरह दिन भर उपवास शायद न कर सकती।

सरला—अभी तुमने दाम्पत्य जीवन की पहली मंजिल भी तय नहीं की है, कमला ! इसीलिए ऐसा कह रही हो। पति का निश्छल प्यार पाकर, उसका त्याग देखकर और उसकी आत्मीयता के रङ्ग में रँग जाने पर, तुम एक दिन तो क्या, कई दिनों तक हँसते-हँसते उपवास कर सकोगी और मेरी बात समझ सकोगी।

कमला—लेकिन सभी पति ऐसे नहीं होते, दीदी ! कुछ तो ऐसे होते हैं, जिन्हें अपनी पत्नी की रत्ती भर चिन्ता नहीं रहती। वे इधर-उधर बहकते-चहकते रहते हैं और सीधी तरह बात भी नहीं करते।

सरला—ऐसे लोगों से हमें-तुम्हें मतलब क्या ? इतना मैं जानती हूँ कि तुम्हारे साजन ऐसे नहीं हैं। माना कि वह रत्ना के बाबूजी की तरह भावुक नहीं हैं; परन्तु यह निश्चित है कि बहकने-चहकनेवाले नहीं हैं।

कमला—तुम ठीक कह रही हो, दीदी ! मैं तो अपनी-तुम्हारी बात से दूर छिटककर दूसरों की—आम घरों की बात कह रही थी। अरे, वह छुंगा ग्वाला, जो हमारे पिछवाड़े रहता है, ऐसा ही है। जब देखो तब उसके घर में हंगामा मचा रहता है। कभी बच्चों को निर्ममता से मारता-पीटता है, तो कभी बेचारी घरवाली की हड्डी-पसली तोड़ता रहता है। सुना है, वह शराब भी पीता है।

सरला—तुमने भी खूब मिसाल दी, कमला ! अरे, इन गँजेड़ी, भँगेड़ी या शराबी लोगों से हमारी समानता ही क्या ?

कमला—समानता की बात नहीं कर रही हूँ, दीदी ! मेरे पड़ोस में वह

रहता है न, सो उसके घर का जो वातावरण रात-दिन देखती रहती हूँ, वही मैं बतला रही हूँ।

सरला—वातावरण हमारे मन पर—जीवन पर अमिट-प्रभाव डालता है, कमला ! रात-दिन हम जो कुछ देखते-सुनते हैं, उससे अपने-आपको बहुत दूर नहीं रख सकते। मैं तो यह बात सुनकर तुम्हें यही सलाह दूँगी कि तुम वह मकान फौरन छोड़ दो—बदल डालो। अभी तुम्हारी नई-नई गृहस्थी है। तुम्हें ऐसे वातावरण में रहना चाहिए जो गंजेड़ी, भँगेड़ी या शराबियों की दूषित हवा से विषाक्त न हो।

कमला—मकानों की समस्या आजकल बड़ी टेढ़ी है, दीदी ! यों हम लोग स्वयं दूसरे मकान की तलाश में हैं। फिर गँजेड़ी, भँगेड़ी या शराबी ही अपने परिवार पर कहर बरसाते हों, सो बात नहीं। मेरे एक रिश्तेदार हैं। रेलवे में टिकट-बाबू हैं। वह जब अपने काम से वापस आते हैं, तो घरवाले ऐसे सतर्क हो जाते हैं, मानो कोई जंगली शेर घर में आ घुसा हो। इस भय का एक कारण है : तनिक-सी गड़बड़ या अशान्ति हुई नहीं कि वह फौरन बरस पड़ते हैं—बच्चों पर, पत्नी पर—यहाँ तक कि अपनी माँ पर भी हाथ छोड़ बैठते हैं।

सरला—दुनिया में अच्छे-बुरे सभी तरह के लोग होते हैं, बहिन ! लेकिन इतना निश्चित समझो कि वातावरण मानव पर अमिट प्रभाव छोड़ देता है। यह तुम्हें क्या पता कि उन टिकट-बाबू को किस वातावरण में रहना पड़ता है अथवा किस वातावरण की अमिट छाप उन पर पड़ चुकी है।

[सहसा बाहरी दरवाजे पर साइकिल की घण्टी की टनटनाहट]

कमला—कोई बुला रहा है शायद।

सरला—(प्रसन्नता से भरकर) शायद नहीं, निश्चित ! और कोई नहीं,

कमला, यह तुम्हारे जीजा की साइकिल की घण्टी है। उनकी घण्टी का स्वर मैं बहुत अच्छी तरह पहचानती हूँ।

कमला—(आश्चर्य से भरकर) अरे! दफ्तर से लौट आये क्या? तो अब मैं सटक-सीताराम होती हूँ।

सरला—यह खूब रही! अरे, तुम्हें भागने की क्या जरूरत आ पड़ी? हम लोग कोई बेगाने तो हैं नहीं। उन्होंने सोचा होगा, दिन भर भूखे रहना ठीक न होगा। फिर उनके साथ मेरा भी उपवास चलता है न! इसीलिए आ गए हैं। अच्छा, मैं जाकर दरवाजा खोल दूँ।

कमला—हाँ-हाँ, शौक से दीदी!

[सरला का बाहरी दरवाजे की तरफ प्रस्थान]

... ...

चौथा दृश्य

[दरवाजा खुलते ही हरीश का भीतर आना। बाहरी कमरे में साइकिल रखना और एक हाथ में एक रूमाल में कुछ बाँधे हुए सरला के साथ-साथ सहन में प्रवेश]

हरीश—(सहन से सटे हुए कमरे में कमला को देखकर) अरे, यहाँ तो गोष्ठी हो रही है। मैंने सोचा, इस गोष्ठी का मुँह मीठा करा आऊँ। यह थोड़ी-सी मिटाई, नमकीन और केले हाजिर हैं।

कमला—बातें न बनाओ, जीजाजी!

हरीश—(मुसकराते हुए) बातें बनाने की तो कोई बात नहीं है, कमला! मैं सचमुच तुम लोगों का मुँह मीठा कराने आया हूँ।

कमला—(तिरछी दृष्टि से देखते हुए) बिना निमन्त्रण के ही मेरा मुँह मीठा कराना चाहते हो? माना कि संयोग से आजकल दीदी के

पड़ोस में रहती हूँ; लेकिन बिना निमन्त्रण के मैं क्यों मिठाई खाने लगी ?

हरीश—तो यह कहो कि अपनों को भी निमन्त्रण देने का नया तरीका तुम इस नए युग में चलाओगी, कमला ? (रूमाल में बँधी मिठाई सरला की तरफ बढ़ाते हुए) लो भई, इसे अपनी छोटी बहिन को खिला सको तो खिलाओ।

कमला—और तुम नहीं खाओगे ?

हरीश—क्यों नहीं ! सब लोग खायँगे मिलकर।

सरला—अब बिना खाए छुटकारा नहीं, कमला ! लो, तश्तरियों में मैं यह सब रख रही हूँ।

[मेज़ पर तश्तरियाँ रखने की आवाज़]

कमला—अच्छा, यह लो, एक रसगुल्ला मैं खाए लेती हूँ और अब आज्ञा चाहती हूँ। (कमला के पग बढ़ाकर चलने की आवाज)

सरला—(झपटकर कमला के पास पहुँचकर) अरे, तुम इतना शरमा रही हो, कमला ! चलो, हमारे साथ बैठकर मिठाई खानी होगी।

कमला—ऊँहुँ !

सरला—आखिर क्यों ?

कमला—(धीमे स्वर में) इसलिए कि तुम अपने रूठे साजन को एकान्त में खुलकर मना सको और तुम दोनों के बीच में जो रंगीन पर्दा लटक रहा है, वह उठ सके।

[एक मुसकराहट के साथ कमला का तीव्रता से प्रस्थान]

पटाक्षेप

रँगा सियार

पात्र-परिचय

रमेश—दर्शन-शास्त्र का डाक्टर
भोला—रमेश का नौकर
गिरीश—प्रैक्टिस करनेवाला डाक्टर
रमा—रमेश की पत्नी
सरला } —रमा की सहेलियाँ
कमला }

पहला दृश्य

स्थान—डाक्टर रमेश का उपवन ।

समय—ग्रीष्मकालीन सन्ध्या ।

[रमा अपनी कोठी के पार्श्व में मुसकराते उपवन के मध्य में एक कुर्सी पर बैठी है । आसमानी रंग की और सुनहरे किनारे की साड़ी के नीचे गहरे गुलाबी रंग का ब्लाऊज रमा की तरुणाई को अपेक्षाकृत अधिक आकर्षक बना रहा है । लम्बी और गुँथी हुई काली वेणी पीठ पर नहीं, बल्कि बाएँ कन्धे पर लहराती हुई उसके हृदय-प्रदेश का स्पर्श कर रही है ।

सामने एक छोटी-सी गोलमेज पर दो-तीन पुस्तकें और आज के कुछ समाचार-पत्र रखे हुए है । गोलमेज की दूसरी तरफ दो खाली कुर्सियाँ पड़ी है । रमा के चारों तरफ देशी-विदेशी, लाल, गुलाबी, श्वेत और नीले गुलाब के फूल मुसकरा रहे हैं । पवन के मन्द-मन्द झोंकों के साथ फूलो की सुगन्ध उपवन के समस्त वातावरण में व्याप्त हो जाना चाहती है ।

उपवन की सीमा-रेखा पर खड़े ऊँचे-ऊँचे सघन वृक्षो पर पक्षी चहचहा रहे है । रमा इन्हीं पक्षियों की चहचहाहट ध्यानमग्ना की भाँति सुन रही है ।

सहसा किसी की मधुर खिलखिलाहट रमा के कानों में प्रवेश करती है । उसका ध्यान पंछियों की ओर से हट जाता है । घूमकर वह आगन्तुकों को देखने लगती है ।]

सरला—(रमा के निकट पहुँच, कमला से कहती है) देखो, आज तो रमा बहिन फूलों की रानी बन बैठी हैं।

कमला—और फूलों के राजा की प्रतीक्षा कर रही हैं !

रमा—(स्वागतार्थ खड़ी होकर) आओ बहिन !

[सरला और कमला मुसकराती हुई, रमा के सामने रखी गोलमेज की दूसरी तरफ की दो कुर्सियों पर बैठ जाती हैं। रमा भी अपनी कुर्सी पर बैठ जाती है।]

सरला—मैंने ठीक ही कहा था, कमला !

रमा—(जिज्ञासा के साथ) क्या ?

कमला—कोई खास बात नहीं, रमा !

रमा—बतलाने लायक नहीं ?

सरला—है क्यों नहीं।

रमा—फिर बतलाती क्यों नहीं ?

सरला—बात यह है रमा कि आज तुम बहुत सुन्दर दिखती हो !

कमला—(फूलों की तरफ संकेत करती हुई) जैसे फूलों की रानी !

रमा—लेकिन...

सरला—(बीच में ही बात काटते हुए) लेकिन फूलों के राजा की प्रतीक्षा कर रही हो।

कमला—अच्छी तरह सुन लो, रमा ! यही बात है, जिसे सरला तुमसे छिपा रही थी अब तक। है न ठीक ?

रमा—(धीमे स्वर में) शायद।

कमला—शायद की इसमें गुंजाइश नहीं। मैंने अपनी छत पर से देखा कि आज तुम अकेली बैठी हो। न अखबार पढ़ रही हो, न कोई पुस्तक। इसी बीच मेरे पास सरला आ पहुँची। हम दोनों ने तुम्हें देखा और यह समझते देर न लगी कि तुम 'उनकी' प्रतीक्षा कर रही हो। परन्तु तुम हो कि डाल-डाल उड़ने की कोशिश कर रही हो।

सरला—(अभिनय के साथ गुनगुनाती है) तुम डाल-डाल मैं पात-पात;
दूँगी तुमको मात साजन !

रमा—ओहो ! यह मैंने आज जाना कि तुम कविता भी कर लेती हो।

सरला—कविता तो मैं शायद सात जन्मों के बाद भी न कर सकूँगी।

रमा—क्यों झूठ बोलती हो ! अरे, अभी-अभी जो गीत तुम गुनगुना रही थीं, उसमें आधी कड़ी तो किसी सिनेमा के गीत की है और आधी ठेठ तुम्हारी अपनी गढ़ी हुई है।

कमला—यह तो तुकबन्दी हुई रमा, कविता नहीं।

रमा—तुकबन्दी करते-करते ही कविता होने लगती है।

सरला—तुम एक दार्शनिक की पत्नी हो न ! तुमसे बहस करना आसान नहीं।

रमा—इसमें दार्शनिकता की कोई बात ही नहीं।

कमला—अच्छा, रमा ! यह तो बतलाओ, इधर डाक्टर साहब दो-तीन दिन से नजर नहीं आ रहे है। कहाँ गये हैं ?

रमा—मत पूछो, बहिन ! आज दिल्ली, कल बम्बई, परसों कलकत्ता। यही क्रम चल रहा है उनका।

सरला क्यों न हो, उनकी रियासत का मामला हाईकोर्ट में चल रहा है न ! तुम्हीं कह रही थीं, उनकी रियासत उनके चचेरे भाई ने हथिया ली है। दुनिया भी कैसी मक्कार है ! थाली की मक्खियाँ भगाने बैठाया नहीं कि थाली पर ही अधिकार जमा लिया। बेचारे जब तक विदेश में रहे, इधर चचेरे भाई ने उनकी रियासत ही हड़प ली। इस हालत में उन्हे इधर-उधर दौड़ना-भागना न पड़े तो क्या हो !

कमला—सन्देह नहीं, रमा बहिन ! चुनाव तुमने बढ़िया किया है।

रमा—क्या खाक बढ़िया किया है ! दुनिया तो मेरा मखौल उड़ा रही है।

सरला—दुनिया को, खासकर ऐसे लोगों को, जिन्हें दूसरों के दोष ढूँढ़ने

की लत पड़ चुकी है, सिवा मखौल उड़ाने के दूसरा काम ही क्या है।

कमला—और ऐसे लोगों में औरतों की संख्या ही अधिक रहती है, सो भी बूढ़ी-सयानी औरतों की। घर में बहुएँ गृहस्थी का काम-धन्धा करती हैं और ये बूढ़ी औरतें पास-पड़ोस की नुकताचीनी की मजलिस जमाए रहती हैं।

रमा—लेकिन आज की बात ही दूसरी है। मेरे नौकर भोला की घरवाली कह रही थी कि पड़ोस में जो डिप्टी साहब अभी-अभी आये हैं, उनकी श्रीमतीजी कह रही थीं कि लैंसडाऊन में जब वे लोग थे, तब ये डाक्टर साहब भी वहीं रहते थे।

सरला—(बीच में ही टोकते हुए) तो क्या इनकी रियासत वहीं लैंस-डाऊन के आसपास है?

रमा—तुम तो पूरी बात सुने बिना ही बीच में टोक देती हो, सरला! सुनो भी तो, वह कहती हैं, लैंसडाऊन में जहाँ वे रहती थीं, वहीं पड़ोस में ये भी रहते थे। और रियासत-वियासत इनके कुछ नहीं है, बहिन!

कमला—(आश्चर्यचकित मुद्रा से) अयँ! रियासत-वियासत कुछ नहीं है, इसका पता उन्हें कैसे लगा?

रमा—कहते हैं, लैंसडाऊन में भी ये एक तरुणी के साथ रहते थे। उससे भी यही सब कहा करते थे, जो मुझसे। और, एक दिन जो वहाँ से गायब हुए कि आज तक वापस नहीं पहुँचे।

सरला—भगवान् न करे, यह बात सच हो, नहीं तो क्या होगा तुम्हारा, रमा?

रमा—(ठण्ढी साँस छोड़ते हुए) जो होना था, वह तो हो चुका, बहिन! अब क्या होगा?

कमला—सच कहती हो, रमा! यह तो उसी दिन सोचने-समझने की बात थी, जब तुमने अपना जीवन-सूत्र इनके साथ सम्बद्ध किया

था। लेकिन मुझे तो ऐसा मालूम पड़ता है कि तुम्हारे कालेज की प्रिन्सिपल ने तुम्हें वास्तविक परिस्थिति से अपरिचित रक्खा। यह हो नहीं सकता कि उन्हें इनकी गति-विधि का पूरा-पूरा पता न रहा हो।

रमा—मुझे तो अब तक सन्देह है।

कमला—क्या ?

रमा—यही कि प्रिन्सिपल बेचारी को इस सबका पता रहा होगा।

सरला—इसका कोई प्रमाण है ?

रमा—हाँ। कल जब मैंने भोला की स्त्री से यह सब सुना, तो मैं उनके पास गई थी। उन्हें जब यह कहानी सुनाई, तो वह कहने लगीं—'रमा, मैं तुम्हें अपनी बेटी की तरह मानती और स्नेह करती हूँ। इस जीवन में कभी तुम्हारे अमंगल की कल्पना नहीं कर सकती। जब डाक्टर रमेश पहली बार मेरे भाई साहब के पास एक बँगले की तलाश करते हुए पहुँचे, तो उनकी बातों से मेरे भैय्या बहुत प्रभावित हुए—इतने कि उन्हें बँगला भी किराए पर दिला दिया। धीरे-धीरे मैं भी उनसे परिचित हो गई। मैं भी उनकी बातों से बहुत प्रभावित हुई। तभी मैंने सोचा, तुम चूँकि इस दुनिया में अपने माता-पिता की छत्रच्छाया से वंचित हो, इसलिए क्यों न ऐसे विद्वान् और सम्पन्न पुरुष के साथ अपने जीवन का सूत्र जोड़ लो और सुखी रहो। परन्तु अपनी राय देकर मैंने तुम्हें भी तो सावधान कर दिया था कि खूब परख कर लो इनकी और जब तुम्हारा मन भर जाय, तब उचित समझो तो मेरे प्रस्ताव को कार्यरूप में परिणत करो। तीन महीने उनकी परख करने पर तुमने स्वयं एक दिन 'सिविल मैरिज' करने की बात मुझसे कही। मैंने अपनी धारणा ठीक समझी और तुम्हारे इस प्रस्ताव का समर्थन कर दिया। अब इतने दिनों बाद यदि डाक्टर रमेश के सम्बन्ध में यह बात सुनी

ज़ा रही है, तो तुम्हीं बतलाओ बेटी, मैं कहाँ तक दोषी हूँ।'
(कहते-कहते रमा का मुख म्लान हो उठता है।)

कमला—तब तो यह कहना पड़ेगा कि डाक्टर रमेश मानव नहीं, रँगा सियार है—पढ़ा-लिखा धूर्त्त !

रमा—और मैं भी तो पढ़ी-लिखी मूर्खा हूँ, जो तरुणाई के ज्वार में इस प्रकार बह गई !

सरला—लेकिन अभी यह नहीं कहा जा सकता कि भोला की स्त्री ने जो कुछ सुना है, वह ठीक ही होगा। ठहरो, डिप्टी साहब की लड़की विमला से मेरा परिचय है। मैं अभी जाती हूँ और पता लगाती हूँ। (कुर्सी से उठकर सरला जाने लगती है।)

कमला—(सरला की ओर दृष्टिनिक्षेप करते हुए) लेकिन विमला से तुम्हें यह सब पता न चलेगा शायद।

सरला—तो क्या विमला की माँ से नहीं पूछ सकती मैं? (किसी उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही सरला चली जाती है।)

कमला—बुरा न मानना, रमा ! कदाचित् यही कारण है कि हमारे माता-पिता वर का चुनाव स्वयं करते हैं और लड़कियों की इच्छा-अनिच्छा की परवा नहीं करते।

रमा—इन रँगे सियारों से कुमारियों की रक्षा का जहाँ तक सम्बन्ध है, यह ठीक है। परन्तु अधिकांश कुमारियों का जीवन इस प्रथा के कारण सुखी नहीं रहता, कमला !

कमला—दूसरों की बात इस समय मैं नहीं करती। यदि डाक्टर सचमुच रँगे सियार निकले—आवारा सिद्ध हो गये—तो क्या तुम्हारा जीवन सुखी रह सकेगा?

रमा—इस समय मेरा दिमाग चकरा रहा है, कमला ! इस उलझी गुत्थी को सुलझाने में मेरी बुद्धि मेरा साथ नहीं दे रही है। केवल यह कह सकती हूँ कि सभी कुमारियाँ मेरी तरह रँगे सियारों के ही चंगुल में नहीं फँस जातीं। मेरा उदाहरण तो अपवाद कहा

जायगा। मेरा भाग्य यदि खोटा है, तो कहीं भी, किसी भी दशा में सुख का स्पर्श मेरे लिए दुर्लभ ही रहेगा।

कमला—यह तो बतलाओ, डाक्टर रमेश कुछ कह गये हैं, कब तक लौटेंगे?

रमा—नहीं।

कमला—इसके पहले जब कभी बाहर जाते थे, कुछ कह जाते लौटने की बात?

रमा—कभी नहीं।

कमला—तब यह सन्देह भी नहीं करना चाहिए कि वे नहीं लौटेंगे।

रमा—सन्देह तो भोला की स्त्री की बातों से ही बढ़ गया है न!

कमला—खैर, सरला अब आती ही होगी। देखें क्या खबर लाती है।

रमा—(तेज स्वर से) भोला! ओ भोला!

[भोला बँगले के बाहरी बरामदे में बैठा-बैठा ऊँघ रहा था। रमा की तेज आवाज सुन, वह हाँफता-सा दौड़ा आया।]

भोला—(रमा के निकट पहुँचकर) जी सरकार!

रमा—चाय लाओ।

भोला—बहुत अच्छा, सरकार!

[भोला चाय लाने चला जाता है। कुछ देर तक निस्तब्धता छाई रहती है।]

... ...

दूसरा दृश्य

[कमला और रमा दोनों उपवन में चुपचाप बैठी हैं। किसी गहन चिन्ता की रेखाएँ दोनों के मुख पर उभर आई हैं। इसी बीच सरला का प्रवेश। सरला के मुख पर भी प्रसन्नता की कोई झलक नहीं। उदास मुद्रा से गुपचुप वह एक कुर्सी पर बैठ जाती है।]

रमा—विमला से भेट हुई, सरला?

सरला—हाँ।

कमला—क्या पता चला ?

सरला—भोला की स्त्री से रमा बहिन जो कुछ सुन चुकी हैं, उससे अधिक कुछ नहीं। केवल एक बात का और पता चला है। वह यह कि जिस तरुणी के साथ डाक्टर रमेश लैंसडाऊन में रहते थे, वह कहीं बाहर की थी अर्थात् लैंसडाऊन की नहीं थी। डाक्टर रमेश जब लैंसडाऊन से सहसा गायब हो गये और तीन महीने तक न लौटे, तब मकान-किराए का प्रश्न बोझिल बनकर उस तरुणी पर पहाड़ की तरह टूट पड़ा। हुआ यह कि एक दिन रातोंरात वह तरुणी भी कहीं चली गई। थोड़ा-बहुत जो सामान उस बँगले में पाया गया, उसे नीलाम किया गया और मकान-मालिक ने इसी रकम से सन्तोष कर लिया।

रमा—बहुत भयंकर जीव मालूम पड़ते हैं।

[चाय का ट्रे लेकर भोला का प्रवेश। गोलमेज के समाचार-पत्र तथा पुस्तकें हटाकर भोला चाय पिलाने की तैयारी करता है। तीनों सहेलियाँ चाय पीने लगती हैं। इसी बीच पोस्टमैन आज की डाक भोला को देकर चला जाता है। भोला वह डाक रमा के सामने रख देता है।

अखबारों आदि के पैकेट रमा एक तरफ रख देती है। एक लिफाफे को रमा उत्सुकतापूर्वक खोलती है। लेकिन उसे पढ़ते-पढ़ते उसकी मुद्रा एकदम म्लान हो उठती है। उसके ललाट पर स्वेद-बिन्दु झलकने लगते हैं। पत्र पढ़ते-पढ़ते कुर्सी के पिछले भाग पर वह अपना सिर टेक लेती है और निश्चल-सी होने लगती है।]

रमा—(मस्तक को एक हथेली का सहारा देते हुए) ओफ! मैं लुट गई! (और दूसरे हाथ से वह पत्र कमला तथा सरला की ओर बढ़ा देती है।)

कमला—(रमा के हाथ से पत्र लेकर और भेजनेवाले का हस्ताक्षर देखकर) अरे, यह तो डाक्टर रमेश का पत्र है।

सरला—कहाँ से भेजा है ?

कमला—(पत्र को ऊपर-नीचे दो-तीन बार देखकर) स्थान का कहीं कोई उल्लेख नहीं। डाक-मुहर भी किसी डाकघर की नहीं। शायद ट्रेन में कहीं यह पत्र छोड़ा गया है।

सरला—बहुत धूर्त्त है डाक्टर रमेश।

कमला—(पत्र पढ़कर) देखा, इस रँगे सियार को ! लिख रहा है, अब मैं वापस नहीं आऊँगा। तुम आशा भी न करना। मैं अपने जीवन में यही खेल खेल रहा हूँ। पढ़ी-लिखी लड़कियों को बेवकूफ बनाने में मुझे आनन्द आता है। तरुणाई की लहरों पर बहकर तुम अपना विवेक खो बैठती हो न ! मैं उसी का लाभ उठाता हूँ, रमा !

सरला—यह मानव नहीं, शैतान है।

कमला—(सहसा रमा की ओर देखकर) अरे, यह रमा तो मूर्च्छित हो गई। देखो न उसकी गर्दन कुर्सी के पिछले भाग पर कैसी लटक रही है !

सरला—(अपनी कुर्सी से उठकर) और दोनों हाथ भी कुर्सी से नीचे लटक रहे हैं—चेतनाशून्य होकर।

कमला—(तेज स्वर से) भोला ! ओ भोला ! अरे, दो-चार गिलास ठण्ढा पानी ला ! जल्दी कर।

सरला—गीले कपड़े की पट्टी रमा के मस्तक पर रखना चाहिए, कमला।

कमला—इसीलिए तो भोला से पानी मँगवाया है।

[पानी लेकर भोला का हाँफते हुए प्रवेश]

भोला—अरे ! मालकिन तो बेहोश...!

सरला—(बीच में ही टोकते हुए) चुप रह भले-मानुष ! शोर मचाने से मूर्च्छा नहीं हट जायगी।

[कमला अपने रूमाल को गीला कर रमा के मस्तक पर ठण्ढी पट्टी रखती है और सरला बारबार मुँह धोती है।]

कमला—गीले कपड़े की पट्टी रखने और मुँह धोने से भी कोई लाभ नहीं दीखता, सरला !

सरला—रमा को अब हम बरामदे में ले चलें, कमला ! वहाँ टेबिल-फैन की हवा में सम्भव है, इनकी मूर्च्छा टूट जाए।

कमला—हाँ, यही ठीक होगा।

[कमला और सरला दोनों ही रमा को बँगले के बाहरी बरामदे में ले जाती हैं और एक आरामकुर्सी पर उसे लिटाकर टेबिल-फैन चालू कर देती हैं।]

सरला—मैं रमा को देखती हूँ, कमला ! तुम भीतरी कमरे में जाकर टेलीफोन से डाक्टर गिरीश को बुला भेजो, बहिन !

कमला—हाँ, सरला ! डाक्टर गिरीश को बुला लेना ही ठीक होगा। अच्छा, मैं उन्हें फोन करती हूँ।

[भीतरी कमरे की तरफ कमला का प्रस्थान]

... ...

तीसरा दृश्य

[रमा के बँगले का भीतर कमरा, जो आधुनिकतम फर्नीचर से सजा हुआ है। एक कोने में छोटी-सी मेज पर टेलीफोन रखा हुआ है। कमला इस टेलीफोन के निकट जाकर डाक्टर गिरीश के फोन का नम्बर मिलाती है और टेलीफोन का रिसीवर उठाकर बातचीत करने लगती है।]

कमला—हलो-हलो !......डाक्टर गिरीश......। मैं डाक्टर रमेश के बँगले से बोल रही हूँ।

डाक्टर गिरीश—कौन ? मिसेज रमा ?

कमला—जी नहीं, मैं उनकी सहेली मिस कमला हूँ।

गिरीश—ओह ! गुड ईवनिंग, मिस कमला ! कहिए, क्या आज्ञा है ?

कमला—आज्ञा नहीं, अनुरोध। आप फौरन आइए। मिसेज रमा बेहोश हो गई हैं। डाक्टर रमेश कहीं बाहर गये हुए हैं।

गिरीश—घबराइए नहीं, मैं अभी आ रहा हूँ।

कमला—धन्यवाद।

[टेलीफोन का रिसीवर यथास्थान रखकर कमला बरामदे में रमा और सरला के पास चली जाती है।]

सरला—आ रहे हैं डाक्टर गिरीश या नहीं?

कमला—हाँ-हाँ, वह आ रहे हैं। रास्ते में ही होंगे।

[कुछ ही मिनटों में डाक्टर गिरीश की मोटर पों-पों करती, बँगले के अहाते में प्रवेश करती है।]

सरला—लो, डाक्टर गिरीश आ गये, कमला!

कमला—(डाक्टर गिरीश को सामने देखकर) आइए डाक्टर साहब! देखिए, रमा बहिन अब तक बेहोश हैं।

गिरीश—(रमा के निकट एक कुर्सी पर बैठते हुए) कोई चिन्ता की बात नहीं। मैं अभी देखता हूँ, उनकी बेहोशी का कारण क्या है।

[डाक्टर रमेश बारीकी से रमा को देखता-भालता है।]

सरला—चला कुछ पता, डाक्टर साहब?

गिरीश—हार्ट (हृदय) पर गहरा शाक (धक्का) लगा है। केस सीरियस (मामला गम्भीर) है। बात क्या हुई?

[कमला और सरला दोनों एक-दूसरी को ध्यानपूर्वक देखती हैं। आँखों ही आँखों में यह निश्चय करती हैं कि यथार्थ बात छिपा लेनी चाहिए। डाक्टर रमेश का पत्र बतलाने पर रमा की इज्जत का सवाल जो सामने था!]

कमला—(गम्भीर मुद्रा से) पता नहीं, बात क्या है, डाक्टर साहब! आज की डाक देख रही थीं कि बस, मूर्च्छित हो गईं।

गिरीश—कोई ऐसा पत्र-वत्र तो नहीं आया कहीं से, जिसे पढ़कर इन्हें गहरा सदमा पहुँचा हो?

सरला—हो सकता है, यही बात हो। मूर्च्छित होने के पहले एक पत्र ये पढ़ भी रही थीं। लेकिन उसे अपने ब्लाऊज की भीतरी जेब में सहेजकर रख छोड़ा है इन्होंने।

गिरीश—वह पत्र आपने पढ़ा है या नहीं?

सरला—(यथार्थता को छिपाते हुए) नहीं।

कमला—किसी का पत्र हमें पढ़ना भी तो नहीं चाहिए, डाक्टर साहब। यह तो सभ्यता के विपरीत है न!

गिरीश—आप ठीक कहती हैं। खैर, मूर्च्छित हो जाने का मेरा अनुमान गलत नहीं है। लेकिन डाक्टर रमेश कहाँ गये हैं?

सरला—पता नहीं कहाँ गये हैं। दो-तीन दिन से बाहर हैं।

गिरीश—अच्छा, मैं अभी दवा भेजता हूँ। नौकर को मेरे साथ भेज दो।

कमला—(भोला की ओर देखते हुए) तुम जाकर दवा ले आओ, भोला!

भोला—बहुत अच्छा, सरकार!

[डाक्टर गिरीश के साथ भोला का प्रस्थान। कमला और सरला दोनों चिन्तित मुद्रा से, मूर्च्छित रमा की तरफ देखती हैं। गहन आशंका और अमंगल की रेखाएँ दोनों के ललाट पर उभर आती हैं।]

पटाक्षेप

भूलभुलैयाँ

पात्र-परिचय

अलका—कवि अरुण की पत्नी

अरुण—अलका का बीमार पति

श्यामा, कमला, विमला, सरला, माया—अलका की सहेलियाँ

एक साधु—गायक

डाक्टर माथुर—प्राइवेट प्रैक्टिस करनेवाला डाक्टर

पहला दृश्य

[सन्ध्या बेला में एक उपवन की ओर दो सहेलियाँ आपस में बातचीत करती बढ़ी जा रही हैं ।]

श्यामा—सावन की यह हरियाली भी अजीब मस्ती अपने साथ ले आती है, कमला !

कमला—क्यों न हो, सावन-भादों में बादल बरसते हैं, बूँदें नाचती हैं। ये बूँदें कलियों के मुख चूमती हैं। इनकी रंगीनियाँ देख किसका मन न झूम उठेगा, श्यामा !

श्यामा—देखो, उस आम के नीचे सभी सहेलियाँ पहले से ही आ पहुँची हैं। कैसा आनन्द मना रही हैं और नाच-गा रही हैं।

कमला—चलो, हम भी तो उन्हीं के पास चल रही हैं ।

[आम्र वृक्ष के नीचे नाचती-गाती सहेलियों के गीत का सुरीला स्वर दूर से धीरे-धीरे सुनाई पड़ता है और बाद में निकट आता-सा सुनाई पड़ने लगता है ।]

हँसी-खुशी का लिये सँदेशा
सावन आया झूम-झूम ।

बादल बरसे झूम-झूम,
बूँदें नाचीं रूम-झूम,
कलियों के मुख चूम-चूम,

चलो सखी बागों में नाचें,
झूला झूलें झूम-झूम ।

हँसी-खुशी का लिये संदेशा
सावन आया झूम-झूम ।

[गीत पूरा होते-होते श्यामा और कमला का, नाचती-गाती सहेलियों के निकट पहुँच जाना ।]

विमला—(गानेवाली सहेलियों में से एक)—आओ बहिन, आज तो तुमने बड़ी देर कर दी। देखो, सूरज अब डूबने जा रहा है और साँझ का झुटपुटा दौड़ता आ रहा है।

श्यामा—हाँ, विमला, आज बहुत देर हो गई।

कमला—क्या करें बहिन, हम दोनों आ रही थीं कि अलका ने हमें रोक लिया।

सरला—(गानेवाली सखियों में से दूसरी)—अरे हाँ, अलका का घर रास्ते में जो पड़ता है। इधर तो वह बगीचे में आती ही नहीं।

श्यामा—(करुण स्वर में)—उस बेचारी का भाग्य-सूर्य अस्त होने जा रहा है। उसके पति दो-तीन सप्ताह से खाट पकड़े हुए हैं और दवा न कराने का हठ भी उन्होंने पकड़ लिया है इस बार।

माया—(गानेवाली तीसरी सहेली)—इस हठ का कारण होगा कुछ।

कमला—है क्यों नहीं! अलका मुझे सब बतला चुकी है। उसके पति अरुण बाबू का भाग्य-सूर्य अस्त हुए अभी अधिक समय नहीं बीता। कुछ महीने पहले तक उनका छापाखाना खूब चलता था। स्वयं किताबें लिखते थे, उन्हें छापते थे और वे खूब बिकती थीं। परन्तु वह छापाखाना साझे में चल रहा था। सम्बन्धियों के शेयर्स (हिस्से) थे। साझे की खेती सदा बुरी होती है न! सम्बन्धियों से आपसी बातों में कुछ खटक गई। फल यह हुआ कि जिन सम्बन्धियों ने कभी सहायता का हाथ बढ़ाया था, उन्हीं ने अरुण बाबू को दिवालिया बना दिया। छापाखाना बिक गया। साझे की सम्पत्ति का हिस्सा-बाँट हो गया। अरुण बाबू बेकार हो गए।

श्यामा—बेकार ही नहीं, इस धक्के से बीमार भी हो गए। मानसिक

आघात बुरा होता है। भगवान् न करे, लेकिन मुझे उनके अच्छे होने की आशा नहीं। कई महीने से बेचारे बेकार बैठे हैं। एक समय था, जब परिवार में किसी के सर में दर्द होता था, तो वे फौरन डाक्टर को घर बुलाते थे। अब बेकार हैं, पैसा नहीं है, तो कहाँ से डाक्टर को बुलावें और दवा करावें ?

माया—अब समझी ! अरुण बाबू कवि हैं न ! कवि बड़े भावुक होते हैं। भावुकता का शिकार होने से भगवान् बचाए। अच्छा, हम सब कल अलका के घर चलेंगी। बेचारी के संकट में कुछ सहानुभूति ही प्रकट कर आयेंगी। मानवता का यही धर्म है, बहिन ! और उसने स्वीकार किया, तो मैं अपने डाक्टर भैया को भेजने का भी यत्न करूँगी।

सरला—यही ठीक होगा।

[सखियों का बगीचे से प्रस्थान]

... ...

दूसरा दृश्य

[सन्ध्या का झुटपुटा। एक कमरे में बीमार अरुण चारपाई पर लेटा है। सामने फर्श पर उसकी पत्नी अलका अनमनी-सी बैठी है। दूर से किसी के गाने की आवाज धीमी-धीमी सुनाई पड़ रही है।]

अरुण—कैसा मीठा गीत गा रहा है कोई ! अलका, तुम सुन रही हो न !

अलका—नहीं ! मैं जब आपकी बीमारी को लेकर परेशान हूँ, तब किसी का गीत नहीं सुनना चाहती।

अरुण—तुम नादान बन रही हो अलका ! अरे, दुनिया इसी का नाम है। कहीं धूप है, तो कहीं छाया। किसी के घर में मातम मनाया जाता है, तो किसी के घर में मंगल-गीत गाए जाते हैं अथवा

शहनाई बजती है। तुम यह आशा ही क्यों करती हो कि तुम्हारे घर में दुख-दर्द और अभाव है, तो सारी दुनिया सर-दर्द मोल ले बैठे?

अलका—सारी दुनिया की बात मैं नहीं करती। लेकिन जिनकी आपने सदा भलाई की, वही हमारी जड़ें काट बैठे। आज उन्हीं कृतघ्नों के कारण हम दिवालिया बन चुके और पैसे-पैसे के लिए मोहताज हैं।

अरुण—इसकी हमें चिन्ता नहीं करनी चाहिए, अलका! हम अपना कर्त्तव्य किए जायँ; परन्तु दूसरों से उसके प्रतिफल की आशा कभी न करें—भूलकर भी नहीं। खैर, छोड़ो भी उन बातों को। सुनो, वह गानेवाला कैसा अच्छा गीत गा रहा है! तुम नहीं सुनना चाहती तो न सही, मुझे ही सुन लेने दो।

[अलका चुप हो जाती है और पति के साथ स्वयं भी गीत सुनने लगती है। गीत निकट आता सुनाई पड़ रहा है।]

रंगमहल की रानी!
सपनों में तुम रूप-परी-सी
नाची थीं मनमानी।

रंगमहल की रानी!

रुनझुन-रुनझुन तेरे पायल,
बना रहे थे मुझको पागल;
एक नई दुनिया थी जिसका
मैं राजा, तू रानी।

रंगमहल की रानी!

झिलमिल-झिलमिल तारों का दल,
दीपक-सा ही जल-जल प्रतिपल,

रजनी के आँचल में छिपता
बनकर एक कहानी ।
रंगमहल की रानी !

[गीत बन्द हो जाता है।]

अरुण—कैसा मीठा गीत है, अलका !

अलका—हाँ, मीठा है; परन्तु मन की पीर से लबालब भरा हुआ।

अरुण— जरा देखो तो गानेवाला कौन है? हो सके तो उसे मेरे पास बुला लाओ, अलका ! इस गीत में मानो किसी ने मेरे ही मन की भावनाएँ भर दी हैं !

अलका—मैं अभी देखती हूँ, कौन गा रहा है।

[अलका बाहर जाती और फौरन लौट आती है।]

—एक साधु गा रहा था। गीत पूरा करके वह चला गया। मैं समझती थी, गीत पूरा हो चुकने पर वह कुछ माँगेगा, परंतु......

अरुण—परन्तु क्या ? ऐसा सुन्दर गीत गानेवाला इस दुनिया से भला क्या माँगेगा ? और, दुनिया उसे दे ही क्या सकेगी ? यही बहुत है कि वह अपने मन की पीर दुनिया को सुना रहा है। यह जीवन सचमुच एक आँखमिचौनी है और यह दुनिया है एक भूलभुलैयाँ। अब मुझे नींद आ रही है। एक गिलास पानी तो पिला दो।

अलका—मैं अभी पानी लाई। (पानी का गिलास भरने चली जाती है।)

अलका—(पानी का गिलास हाथ में लिये हुए धीमे स्वर में)—अरे, जब तक मैं पानी लेने गई, इनकी आँख लग गई। अब इन्हें आराम से सोने दूँ। (तनिक रुककर) घर में अँधेरा हो रहा है। चलो, दीपक जला लूँ तब तक।

अलका—(दीपक जलाकर धीमे स्वर में प्रार्थना करती है)—हे संझा माता, मेरे जीवन-देवता को भला-चंगा कर दो। हे अन्तर्यामी,

एक बार फिर मेरे जीवन को, इस दीपक की ज्योति-जैसा ही सुनहरा और ज्योतित कर दो, भगवन् !

[इसी बीच हवा के तीव्र झोंके से दीपक बुझ जाता है। अलका चौंक पड़ती है और तनिक तेज आवाज में बड़बड़ाने लगती है ।]

अलका—अरे ! हवा के तेज झोंके से दीपक बुझ गया ! तब क्या परमात्मा ने मेरी प्रार्थना नहीं सुनी ! और यदि सुन भी ली, तो क्या उसे पूरी नहीं करना चाहता ? क्या मेरे स्वामी अब स्वस्थ न होंगे ? मेरे सुनहरे दिन क्या अब कभी न लौटेंगे ?

अरुण—(अलका की बड़बड़ाहट सुनकर आँखें खोलते हुए)—क्या हुआ अलका ? तुम क्या कह रही हो अपने-आप ? और, घर में अँधेरा हो चुका है; लेकिन दीपक नहीं जलाया तुमने अब तक ?

अलका—(एक ठण्ढी साँस लेकर)—हाँ, अँधेरा हो गया है। अब शायद अँधेरा ही रहेगा।

अरुण—बात क्या है, अलका ? तुम्हारी आवाज काँपती-सी क्यों लग रही है ?

अलका—(दीपक को पुनः जलाते हुए)—मैं दीपक जलाकर प्रार्थना कर रही थी कि इस दीपक की सुनहरी ज्योति-जैसा ही मेरा जीवन फिर एक बार ज्योतित कर दो भगवन् ! लेकिन उसी समय दीपक बुझ गया। शायद मेरी प्रार्थना का उत्तर मिल गया। दीपक तो मैं फिर जलाए लेती हूँ; लेकिन अब मैं आपकी एक भी बात न सुनूँगी। कारबार धूल में मिल गया, मिल जाए, परन्तु मैं अपना जीवन धूल में न मिलने दूँगी। मैं पूछती हूँ, आप डाक्टर को क्यों नहीं बुलाने देते ?

अरुण—तुम नहीं समझतीं, अलका ! दिल पर लग जानेवाली चोट की दवा इस दुनिया में नहीं हो सकती।

अलका—खैर, हो सकती है या नहीं, इसे मैं देख लूँगी। मैं अभी डाक्टर को बुलाकर लाती हूँ।

[अलका का प्रस्थान ।]

... ...

तीसरा दृश्य

[डाक्टर माथुर का दवाखाना । अलका का प्रवेश]

अलका—नमस्ते, डाक्टर माथुर !

डाक्टर—हलो, अलका देवी ! कहिए, कैसे तक़लीफ़ की ?

अलका—दो-चार मिनट का समय एकान्त में दीजिए। दूसरे मरीजों के सामने अपनी बात कैसे कहूँ ?

डाक्टर—ओह ! मैं भूल ही गया कि किसी महिला से बात कर रहा हूँ। चलिए, प्राइवेट रूम में। (फिर मरीजों की तरफ़ मुखातिब होकर) भाई, पाँच-सात मिनट के लिए माफ़ करना। मैं अभी आया।

[प्राइवेट रूम में डाक्टर माथुर और अलका का प्रवेश।]

डाक्टर—आइए, अलका देवी, बैठिए।

अलका—(एक कुर्सी पर बैठते हुए)—यह तो आपने सुन ही लिया होगा डाक्टर, कि कुछ सगे-संबंधियों ने ही हम लोगों को दिवालिया बना डाला है। छापाखाना बिक चुका है।

डाक्टर—ऊँह ! आप लोगों की तकदीर थोड़े ही कोई छीन लेगा ! कोई दूसरा कारबार अरुण बाबू चला लेंगे। वे हाथ-पर-हाथ धरकर बैठनेवालों में से नहीं हैं।

अलका—खैर, देखा जायगा। इधर दो सप्ताह से उनकी तबीअत बहुत खराब है।

डाक्टर—और इतनी गफलत कि दो सप्ताह बाद आप मुझे खबर दे रही हैं ?

अलका—क्या कहूँ डाक्टर साहब, इस बार 'वे' ऐसी जिद पकड़े बैठे हैं कि न तो कोई दवा ले रहे हैं, न आपको बुलाने पर राजी हो रहे हैं। आज तो मैं अपनी जबरदस्ती से ही आपके पास चली आई हूँ। आप चलकर उन्हें देख लीजिए और अच्छी-सी दवा दीजिए ताकि जल्द ठीक हो जायँ।

डाक्टर—चलिए, मैं अभी चलता हूँ। यहाँ बैठे मरीजों से मैं आध घण्टे की माफी माँगे लेता हूँ।

[डाक्टर माथुर अपना बैग उठाकर अलका के साथ जाने को तैयार होते हैं।]

डाक्टर—(दवाखाने में बैठे मरीजों से)—मैं अभी आता हूँ—आध घंटे में। जरा अरुण बाबू को देखने जा रहा हूँ।

[दवाखाने के बाहर डाक्टर माथुर अपनी कार पर बैग रखते हैं।]

डाक्टर—आइए, अलका देवी। बैठिए गाड़ी पर।

[कार के स्टार्ट होने, चलने और कुछ देर बाद रुकने की आवाज।]

अलका—(अपने घर के सामने कार से उतरते हुए)—आपने बड़ी कृपा की, डा० माथुर ! आइए।

डाक्टर—इस शिष्टाचार की जरूरत नहीं, देवीजी। चलिए, अरुण बाबू को देख लूँ।

[अरुण की शय्या के पास जाकर डाक्टर बारीकी से उन्हें देखते हैं।]

अलका—कमजोरी बहुत आ चुकी है, डाक्टर साहब ! देखिए न, कैसी नींद लग रही है।

डाक्टर—सचमुच कमजोरी बहुत बढ़ गई है। इन्हें खाने-पीने को क्या दे रही हैं आजकल ?

अलका—ये कुछ खाते-पीते ही नहीं। दूध भी तो नहीं पते बराबर।

डाक्टर—इनकी हालत बहुत नाजुक हो चुकी है।

अलका—(कुछ घबराहट के साथ)—नहीं तो। अभी मेरे जाने के पहले ये मुझसे खूब बातें कर रहे थे। एक साधु का गाना भी सुनते रहे और उसकी तारीफ भी करते रहे। फिर, आप कैसे कह रहे हैं कि हालत बहुत नाजुक हो चुकी है ?

डाक्टर—मैं अरुण बाबू को बहुत अच्छी तरह जानता हूँ। ये बड़े भावुक हैं। और आपसे जो बातें कर चुके हैं, वह इनकी भावुकता की अन्तिम लहर रही होगी।

अलका—(भर्राए कण्ठ से) जी······?

डाक्टर—क्षमा करें, अलका देवी! दीपक जब बुझने लगता है तो एक बार उसमें बहुत तीव्र प्रकाश ज्योतित हो उठता है; लेकिन वह अन्तिम प्रकाश होता है—एक भूलभुलैयाँ उसे कह सकते हैं। खेद है, अरुण बाबू का आपसे बातें करना और साधु के गीत की प्रशंसा करना भी दीप-निर्वाण की भूमिका रही होगी—मात्र भूल-भुलैयाँ! अब इनके बचने की कोई आशा नहीं।

अलका—बचने की कोई आशा नहीं! तो यह दीपक बुझ रहा है!! (और धड़ाम से फर्श पर गिर पड़ती है—किसी कटे वृक्ष की तरह। डाक्टर विस्फारित नेत्रों से देखता रह जाता है। बैकग्राउण्ड से धीरे-धीरे कोई यह गीत गा रहा है :)

मन मतवाला तरसे!
आसमान में घिरी बदरिया
रिमझिम-रिमझिम बरसे।
मन मतवाला तरसे।

पिया-मिलन की आस छोड़कर
आँसू क्यों छलकाए?
प्रेम-पंथ की जोगिन बनकर
इतनी क्यों भरमाए?

समझ रही क्यों प्रेम-नगरिया
बड़ी दूर इस घर से ?
मन मतवाला तरसे।

जलने दे वह दीप कि जलकर
अन्धकार मिट जाए।
पायल तेरे बजें कि बजकर
आसमान हिल जाए।
रैनबसेरा तेरे प्रिय का
दूर न तेरे घर से।
मन मतवाला तरसे।

आँखमिचौनी जीवन की यह
सबको ही भरमाए।
भूलभुलैयाँ माया की यह
सबको ही भटकाए।
आसमान में घिरी बदरिया
रिमझिम-रिमझिम बरसे।
मन मतवाला तरसे।

पटाक्षेप

मुँह-दिखाई

पात्र-परिचय

कमला—नववधू
लता—कमला की ननँद
देवदत्त—कमला का पति

[एक सजे-सजाए कमरे में नववधू कमला एक मखमली कालीन पर बैठी है। उसके निकट ही एक रजत थाल में बहुत से रुपए और दूसरे थाल में सोने-चाँदी के विभिन्न आभूषण रक्खे हैं।]

लता—(अपनी भाभी कमला के निकट पहुँचकर) भाभी! आज तुम बहुत ही अच्छी—बड़ी सुन्दर—दीख रही हो।

कमला—(मुसकराते हुए) क्यों भला, आज कौन-सी खास बात हो गई? तुम्हारी यह भाभी तो वही है, जो कल थी, परसों थी।

लता—कोई खास बात हो गई है या नहीं, इसे तो तुम जानो, भाभी! लेकिन मैं जो कह रही हूँ, वह गलत नहीं है। यों मेरा मतलब यह नहीं कि तुम पहले सुन्दर नहीं थीं। ऊँ हुँ! सुन्दर तो तुम पहले से ही हो; परन्तु आज उस सुन्दरता में चार चाँद लगे दीखते हैं।

कमला—अपनी-अपनी दृष्टि है, अपना-अपना चश्मा!

लता—(भाभी के कन्धे पर अपना एक हाथ धरते हुए) नहीं भाभी, यह बात नहीं। यदि मेरी बात सच न होती, तो आज परिवार, रिश्ते और पास-पड़ोस की सभी स्त्रियाँ तुम्हारा मुँह देखने क्यों आतीं?

कमला—(मुसकराते हुए) ओहो! अब समझी तुम्हारी बात।

लता—(अधीरतापूर्वक)—क्या समझीं, भाभी?

कमला—कुछ नहीं, जब तुम्हारा विवाह होगा, तब तुम भी समझ जाओगी यह रहस्य।

लता—रहस्य! स्त्रियों का आना और तुम्हारा मुँह देखना भी कोई रहस्य है, भाभी?

कमला—क्यों नहीं, ननँद रानी! सारा विवाहित जीवन ही एक रहस्य है। यही समझ लो कि यह मुँह-दिखाई भी विवाहित जीवन के अनेक रहस्यों में से एक है।

लता—(कमला के निकट बैठकर) मुझे न समझाओगी भाभी, यह रहस्य क्या है ?

कमला—(लता की आँखों में आँखें डालते हुए) क्यों नहीं ! भाभी-ननँद का रिश्ता ही ऐसा है कि उसमें कहीं, किसी प्रकार का दुराव टिक नहीं सकता। लेकिन एक बात है......

लता—(बीच में ही भाभी को टोकते हुए) भैय्या का डर लगता है, यही न भाभी ?

कमला—तुम्हारे भैय्या का डर क्यों लगेगा मुझे ? शेर थोड़े ही हैं वह कि मुझे गटक लेंगे !

लता—तब क्या बात है ?

कमला—यही कि विवाहित जीवन के रहस्य अभी तुमको बतलाना ठीक नहीं। जब तुम्हारा विवाह होने लगेगा, तब मैं सारी बातें बतला दूँगी।

लता—(तुनककर)—मुझे सारी बातें जानने-समझने की जरूरत नहीं, भाभी ! मैं तो सिर्फ यही पूछ रही हूँ कि पास-पड़ोस की और नाते-रिश्ते की जो स्त्रियाँ आज तुम्हारा मुँह देखने आई थीं, और तुम्हें किसी ने रुपए दिये, किसी ने सोने-चाँदी के आभूषण दिये या दूसरे उपहार दिये, इसमें क्या रहस्य है ?

कमला—बतलाती हूँ, रानी बेटी ! विवाह की अन्य रस्मों के साथ-साथ यह मुँह-दिखाई भी बड़ी अजीबोगरीब रस्म है। जब नववधू पहली बार ससुराल में आती है, तो परिवार और नाते-रिश्ते की जेठी-सयानी महिलाएँ उसका मुँह देखतीं और इसी बहाने उसे कुछ उपहार देती हैं। यह देखो न, मेरे सामने इन्हीं उपहारों का ढेर लगा है। इसी को मुँह-दिखाई कहते हैं।

लता—(भाभी के मुँह पर दृष्टि गड़ाते हुए)—लेकिन इसमें कहाँ, क्या रहस्य है, यह तो मैं अब तक न समझ सकी, भाभी ?

कमला—इसमें एक नहीं, कई रहस्य हैं, रानी बेटी ! पहला रहस्य तो

यही है कि नवबधू सुन्दर हो या असुन्दर, मुँह-दिखाई की रस्म अवश्य पूरी की जायगी। बधू का मुँह देखने के लिए यह सब आडम्बर करने की क्या आवश्यकता है? यदि यह रस्म न की जाए, तो क्या सयानी महिलाएँ बधू का मुँह देखने से भी वंचित रह जायँगी? अरे, उसका मुँह तो उन्हें रात-दिन अनायास ही देखने को मिलेगा न!

लता—मैं तुम्हारी यह बात नहीं मानती, भाभी!

कमला—न मानने का कोई कारण है?

लता—बहुत बड़ा कारण है, भाभी! तुम यह भूल रही हो कि मुँह-दिखाई की प्रथा जिस युग की है, उस युग में पर्दा-प्रथा का ऐसा बोलबाला था कि ससुराल में बहुएँ अपनी सास, जेठानियों और सयानी महिलाओं के सामने भी घूँघट हटाकर अपना मुँह नहीं खोल सकती थीं। यही कारण था कि विवाह के बाद नवबधू के आगमन पर उसका मुँह देखने के लिए इस प्रथा को जन्म दिया गया। और नई बहू के प्रति अपना स्नेह प्रकट करने के लिए—उसका सम्मान करने के लिए, उसे उपहार के रूप में नकद रुपए अथवा हैसियत के मुताबिक सोने-चाँदी के आभूषण देने का रिवाज चल पड़ा।

कमला—(चौंकते हुए)—अरे! तुम्हारी बातों से तो ऐसा लगता था कि तुम मुँह-दिखाई के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानतीं, ननँद रानी! लेकिन तुम सब कुछ जानती हो, यह अब पता चला मुझे। किसने यह सब बतलाया है तुम्हें? मालूम पड़ता है, कालेज में तुम्हें विवाहित जीवन की शिक्षा भी दी जाती है, तभी...

लता—(बीच में बात काटते हुए)—अब यह मजाक रहने दो, भाभी! मैंने तो सीधी-सच्ची बात कहकर तुम्हारा भ्रम दूर करने के लिए ही यह तर्कसंगत बात कह देना ठीक समझा। पुस्तकों के आधार पर

यह बातें मैं क्या, सभी पढ़ी-लिखी लड़कियाँ समझ सकती हैं। अच्छा, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रहस्य ?

कमला—अब नहीं कहूँगी कुछ। कहीं उसे भी तुमने इसी तरह काट दिया, तो कहना ही व्यर्थ है।

लता—हार गई ?

कमला—हारनेवाली नहीं हूँ मैं ! अच्छा सुनोः मुँह-दिखाई के समय सभी महिलाएँ तोता-रटन्त-सी एक ही बात कहती हैं—'बहू का मुँह चन्दा जैसा है, रङ्ग चम्पा-जैसा है। सदा सुहागिन रहे।'

लता—यहाँ भी तुम भूल रही हो, भाभी ! तुम्हारी मुँह-दिखाई में यह बात कही गई है, इसीलिए तुम शायद यह समझ रही हो कि किसी साँवली या काली बहू को देखकर भी महिलाएँ यही कहती होंगी। लेकिन यह बात नहीं है। मैंने दो-एक साँवली बहुओं की मुँह-दिखाई भी देखी है। उसमें यह बात नहीं कही जाती।

कमला—तब क्या कहा जाता है वहाँ ?

लता—महिलाएँ कह देती हैं—'अच्छी-भली है बहू ! सदा सुहागिन रहे।' नई बहू के नाते उसकी बुराई नहीं की जाती। परन्तु गोरी और काली को एक ही तराजू पर नहीं तोला जाता। सब धान बाईस पसेरी नहीं होती।

कमला—मैं हार मानती हूँ, ननँद रानी !

लता—हारजीत की तो कोई बात नहीं है, भाभी ! भ्रम सभी को हो जाता है। और कोई रहस्य तो नहीं बचा, भाभी ?

कमला—(व्यंग्यपूर्वक) हाँ गुरुजी, एक रहस्य और है।

लता—अरे ! तुमने मुझे अपना गुरु मान लिया, भाभी ? यह तो एकदम उल्टी गंगा बहने लगी। होना तो यह चाहिए कि विवाहित जीवन के रहस्यों का जहाँ तक सम्बन्ध है, भाभी अपनी कुमारी ननँद को शिक्षा दे। लेकिन तुम हो भाभी कि मुझे ही अपना गुरु कहने लगीं !

कमला—दूसरे रहस्यों के बतलाने का जब समय आयगा, मैं तुम्हारी गुरु बन जाऊँगी। इस समय तो तुम्हीं मेरी गुरु हो।

लता—यह खूब कहा, भाभी! गुरु बनाम चेला और चेला बनाम गुरु! (हँस पड़ती हैं दोनों। हँसी शान्त होने पर) अच्छा, तो सुनूँ तुम्हारा तीसरा रहस्य, भाभी?

कमला—मुँह-दिखाई में नवबधू को जो नकद रुपया अथवा सोने-चाँदी के आभूषण मिलते हैं, उन पर उसका व्यक्तिगत अधिकार न होना भी किसी रहस्य से कम नहीं है। परन्तु ससुरालवाले स्वेच्छा से उसका उपभोग करते हैं। बधू को तो ढेर से आभूषणों में से इने-गिने ही मिल पाते हैं। और नकद रुपयों में से तो एक भी उसके पल्ले नहीं पड़ता।

लता—(खड़े होने का अभिनय करते हुए)—तो मैं जाकर भैय्या से कह दूँ कि भाभी की मुँह-दिखाई में जो रुपए और आभूषण मिले हैं, उन पर भाभी का ही अधिकार रहे।

कमला—(लता को बैठाते हुए) बाप रे! यह भूलकर न करना, गुरुजी! मैंने तो यह सब केवल इसलिए कहा है कि तुम इस मामले में मेरी गुरु हो, और मेरे सन्देह का निराकरण करोगी।

लता—अरे, यह तो मैं भूल ही गई थी। खैर, ऐसा होने का एक कारण है, भाभी। जिन लोगों से बधू को उपहार में नकद रुपए अथवा आभूषण मुँह-दिखाई में मिलते हैं, उनके यहाँ भी ऐसे अवसरों पर बधू के परिवार को प्रतिदान में ऐसा ही उपहार देना पड़ता है। यह तो सामाजिक व्यवहार की बात है न! दुनियादारी का मतलब ही यह है कि इस हाथ दे, उस हाथ ले। इसीलिए मुँह-दिखाई में मिलनेवाले उपहारों आदि पर बधू का व्यक्तिगत अधिकार नहीं माना जाता।

[देवदत्त का अचानक प्रवेश। आते-आते वह लता का अन्तिम वाक्य सुन लेता है और चुपचाप सिर हिलाने लगता है।]

देवदत्त—किन उपहारों पर बधू का व्यक्तिगत अधिकार नहीं माना जाता, लता ?

लता—(सकपकाकर खड़ी हो जाती है) ओह, भैय्या आ गये ! खैर, मैं तो भाभी से यों ही गपशप कर रही थी, भैय्या !

देवदत्त—(मुसकराते हुए) घबराओ नहीं, बहिन ! मैंने तुम्हारी बात का अन्तिम अंश बखूबी सुन लिया है। परन्तु उसमें ऐसी बात ही क्या तुम्हारी घबराहट का कारण हो।

लता—इस मुँह-दिखाई पर ही मैं भाभी से बातें कर रही थी। इसमें मिलनेवाले उपहारों पर बधू का व्यक्तिगत अधिकार क्यों नहीं माना जाता, यही भाभी को समझा रही थी।

देवदत्त—तुमने जो कुछ कहा है लता, वह एकदम ठीक है। लेकिन अब युग बदल चुका है। मेरी समझ में तो अब इस प्रथा की आवश्यकता ही नहीं रही। जब पर्दा-प्रथा जोरों से उठ रही है, तब मुँह-दिखाई का महत्त्व ही क्या रहा ?

लता—इस प्रथा के नाम पर काफी नकद रुपए और ढेर से सोने-चाँदी के आभूषण तो घर में आ ही जाते हैं।

देवदत्त—यदि ये उपहार न आवें, तो हानि क्या है ? बल्कि यों कहो कि दूसरों का कर्ज हमारे सिर पर लद जाता है। उपहार देनेवालों के घर में भी जब नवबधू आती है, हमें सूद सहित उनकी रकम वापस करनी पड़ती है।

लता—सूद सहित ?

देवदत्त—हाँ बहिन, जो हमें दस रुपए दे जाता है, उसे क्या हम दस रुपए ही देंगे ? दुनियादारी का अर्थ है आपस के सम्बन्धों को प्रगाढ़ बनाए रखना, और प्रगाढ़ सम्बन्ध के लिए आदान-प्रदान बहुत आवश्यक है। इसमें यह ध्यान रखना ही पड़ता है कि जो हमें दस रुपए दे, अवसर पड़ने पर हम उसे दस से कुछ अधिक ही दें। तुम्हीं बताओ, यह सूद नहीं, तो क्या है ?

लता—तब तो सचमुच ऐसी प्रथा से कोई लाभ नहीं।

देवदत्त—प्रथाओं से, परिपाटी से, अथवा लकीर पर फकीर बनकर चलने से भी कभी कोई लाभ हुआ है, लता ?

लता—मालूम पड़ता है, भैय्या-भाभी दोनों ने सलाह कर ली है कि मुँह-दिखाई की रस्म पर जोरों से विरोध प्रकट किया जाए।

कमला—और मेरी ननँद रानी ने इसके पक्ष में वकालत करने का शायद इसलिए निश्चय कर रक्खा है कि विवाह होने पर कहीं मुँह-दिखाई न हुई, तो ढेर से उपहार भला, कहाँ मिलेंगे।

लता—(तुनककर)—मुझे ऐसे उपहारों की जरूरत नहीं।

कमला—न सही तुम्हें, लेकिन यह कौन कह सकता है कि मुँह-दिखाई के नाम पर तुम्हारी ससुरालवालों को भी ऐसे उपहारों की आवश्यकता न होगी ? और ससुराल की भलाई का अभी से ध्यान रखना कुछ अनुचित नहीं है, रानी बेटी !

देवदत्त—लेकिन मैं इस प्रथा में एक परिवर्त्तन कर रहा हूँ—अपने ही घर से इसका श्रीगणेश कर रहा हूँ।

लता—वह क्या भैय्या ?

देवदत्त—मुँह-दिखाई में जो रुपए और सोने-चाँदी के आभूषण मिलते हैं, उन पर बधू का ही व्यक्तिगत अधिकार रहे।

लता—तो भाभी के सामने रखे हुए नकद रुपयों और आभूषणों पर भाभी का ही अधिकार होगा, भैय्या ?

देवदत्त—अवश्य।

लता—लेकिन पिताजी या माताजी इसका विरोध करेंगी तो ?

देवदत्त—उनके विरोध का सामना कर चुका हूँ मैं। उन्हें अपने विचारों से सहमत कर चुका हूँ। वे मान गये हैं कि मुँह-दिखाई में मिलने-वाली धन-राशि पर बधू का ही व्यक्तिगत अधिकार होना चाहिए। उन्होंने कह दिया है कि आज तुम्हारी भाभी की मुँह-दिखाई में

जो भी रुपए और आभूषण आये हों, वे सब तुम्हारी भाभी को दे दिये जायँ।

लता—लो भाभी ! अब चैन की वंशी बजने दो।

देवदत्त—हाँ, तुम्हारी भाभी का, मुँह-दिखाई के इन उपहारों पर पूरा-पूरा अधिकार है।

कमला—तो इसे मैं स्वेच्छापूर्वक खर्च भी कर सकती हूँ न ?

देवदत्त—क्यों नहीं, अन्यथा तुम्हारे अधिकार का अर्थ ही क्या हुआ ?

कमला—तो इसे मैं गांधी-स्मारक-कोष में देने का संकल्प करती हूँ।

लता—अरे, सबके सब उपहार और रुपए दान में दे दोगी, भाभी ?

कमला—हाँ बेटी ! जिस राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने हमारे देश को सदियों की गुलामी की जंजीरों से मुक्त कर स्वतन्त्रता के मंगल प्रभात की सुनहरी किरणों का स्पर्श कराया; महिलाओं की शिक्षा और समानाधिकार का वरदान दिलाने में जिस राष्ट्रपिता ने कुछ उठा नहीं रक्खा, उसके स्मारक-कोष में एक नारी की मुँह-दिखाई की यह तुच्छ राशि यदि कुछ योग दे सके, तो भारतीय नारी की मानवता और उसके सौभाग्य का इससे बढ़कर दूसरा क्या आदर्श हो सकता है ?

लता—ओह ! मेरी भाभी इतनी महान् है, यह मुझे पता नहीं था। तुम्हारा यह त्याग प्रत्येक भारतीय नारी के लिए अनुकरणीय आदर्श होगा, भाभी ! तुम जुग-जुग जियो और सुहागिन रहो।

देवदत्त—वास्तव में लता, आज तुम्हारी भाभी ने अपने त्याग से अपनी मुँह-दिखाई के उपहारों आदि का गांधी-स्मारक-कोष में दान देकर मेरे वंश का मस्तक गर्व से ऊँचा कर दिया है। अच्छा, मैं बाहर जाकर अपने मित्रों को यह सम्वाद सुना दूँ।

[देवदत्त का प्रस्थान]

पर्दा

बड़ी बहू

पात्र-परिचय

श्रीमती मीरादेवी—मध्यवर्ग की एक शिक्षित महिला

,, विमला—मीरादेवी की पुत्रबधू

,, शारदा—मीरादेवी की एक पड़ोसिन

,, मनोरमा—,, ,, ,,

स्थान: श्रीमती मीरादेवी के मकान का एक बड़ा कमरा।

समय: सन्ध्या।

[एक बड़ी-सी दरी पर दो भद्र महिलाएँ—श्रीमती शारदा और श्रीमती मनोरमा बैठी हैं। श्रीमती मीरादेवी अभी-अभी पाण्डु रोग से मुक्त हुई हैं। बहुत कमजोर हैं, फिर भी इन भद्र महिलाओं के आगत-स्वागत में व्यस्त हैं।

कमरे की सजावट सुरुचि सम्पन्न है। दीवारों पर कुछ राष्ट्रीय नेताओं के भव्य चित्र लटक रहे हैं, तो कुछ मनोहर प्राकृतिक दृश्यों के चित्र भी उस कमरे की शोभा में चार चाँद लगा रहे हैं। बीच-बीच में पारिवारिक फोटो भी दर्शनीय हैं।

कमरे के प्रवेश-द्वार के निकट ही भीतर की ओर एक मेज पर बढ़िया रेडियो-सैट सुशोभित है। इस समय रेडियो द्वारा संगीत की स्वर-लहरियाँ उस कमरे के वातावरण को मधुरता और मस्ती से भर रही हैं।

दरी के एक छोर पर श्रीमती मीरादेवी की पुत्रवधू विमला सिकुड़ी-सिमटी-सी बैठी-बैठी ऊन की कोई बनियान बुन रही है। विमला के कानों में हीरे चमक रहे हैं। आसमानी रंग की एक बढ़िया साड़ी नवीन ढंग से उसने पहन रक्खी है। सिर पूरी तरह खुला तो नहीं है, कारण ससुराल की सीमाओं में है न! फिर भी नवबधू की भाँति लम्बा घूँघट विमला के मुख को ढँक नहीं सका। उसका गोल और नवनीत-सा मुख बखूबी दीख रहा है, जिस पर सावधानी से क्रीम और पाउडर लगाया गया है। आँखें बड़ी-बड़ी हैं। रंग गोरा है; परन्तु नाक की बनावट बहुत सुडौल नहीं है।

रेडियो का संगीत जब तक उस कमरे के वातावरण में तिरता

रहा, तब तक एक अपूर्व शान्ति रही। संगीत का कार्यक्रम समाप्त होते ही जहाँ रेडियो पर अन्य कार्यक्रम की घोषणा प्रसारित की गई, कि श्रीमती मीरादेवी ने तत्काल उसका स्विच आफ कर दिया।]

मीरादेवी—विमला, तुम रसोईघर में जाकर चाय तो बनवा लाओ।

विमला—अभी लाई, माताजी! (विमला का प्रस्थान।)

शारदा—ऐसा मालूम पड़ता है कि इस बहू में आगत-स्वागत करने का साधारण ज्ञान भी नहीं है।

मनोरमा—संस्कृत पढ़ी-लिखी है न! संस्कृतवाले बहुधा शिष्टाचार से दूर रहते हैं।

मीरादेवी—और यदि शिष्टाचार का स्वाँग रचते हैं तो, ऐसा कि संसार में उनके समान नम्र और सभ्य अन्य किसी व्यक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

शारदा—मुझे तो कभी ऐसे व्यक्ति को निकट से देखने-समझने का अनुभव नहीं है, बहिन!

मनोरमा—लेकिन मीरादेवी को तो संस्कृतवालों को बहुत ही निकट से देखने-सुनने का अवसर मिल गया है। समधी संस्कृत के शिक्षक और यह बड़ी बहू भी संस्कृत की अच्छी जानकार।

मीरादेवी—तभी तो अधिकार के साथ संस्कृतवालों की विशेषता पर मुझे दो-एक शब्द कह देने पड़े, बहिन!

शारदा—(मुसकराहट के साथ) तो यह कहो बहिन, कि बड़ी बहू के शिष्टाचार और मीठी-मीठी बातों से सदा प्रसन्नता के सागर की लहरों पर तिरती रहती होगी।

मनोरमा—और समधी की सभ्यता का भी अच्छा-खासा अनुभव हुआ होगा।

मीरादेवी—(कुछ उत्तेजित होते हुए) हाँ, बहिन, ऐसा अच्छा अनुभव हो रहा है कि जन्म-जन्मान्तर तक इस बड़ी बहू और इसके पिता के व्यवहारों को शायद ही भूल सकूँ।

शारदा—(साश्चर्य) क्या कहती हो, मीरादेवी? बड़ी बहू बोलती तो बड़ा मीठा है। लगता है, उसकी वाणी से फूल झरते हैं।

मीरादेवी—इस मिठास को हम लोग ही समझते हैं, बहिन। कुनैन की गोली पर चीनी का आवरण देखकर उसे मीठा समझ लेना आसान है; किन्तु उसे निगलनेवाला ही उसके वास्तविक स्वाद का अनुभव कर सकता है। इसी तरह किसी जहरीली और कँटीली झाड़ी से झरते हुए फूल देखने में सुन्दर भले ही लगें; किन्तु उनका स्पर्श करनेवाला और उनको सूँघनेवाला ही उनकी वास्तविकता का अनुभव कर सकता है।

शारदा—आज आपकी बातें सुन, मुझे गहरा आश्चर्य हो रहा है, बहिन! अभी मुश्किल से एक वर्ष बीता होगा आपके बड़े लड़के गिरीश का विवाह हुए; लेकिन आज आपकी बातों से मालूम पड़ता है कि इस बड़ी बहू और शायद समधी के भी व्यवहार से आप लोगों को कुछ असन्तोष है। एक बात तो मैं स्वयं देख रही हूँ कि संस्कृत पढ़ी-लिखी होने पर भी क्रीम-पाउडर लगाती है बड़ी बहू!

मनोरमा—क्रीम-पाउडर तो लगाती ही है, एक हाथ में बढ़िया-सा रूमाल भी सदा लिये रहती है। संस्कृत पढ़ी-लिखी होने पर तो इस बहू का यह हाल है, जो कहीं अँगरेजी पढ़ी-लिखी होती, तो भगवान् ही जाने, क्या रंग-ढंग होते इसके! और, असन्तोष की जो बात आपने कही है न, सो थोड़ा नहीं, शारदा बहिन, घोर असन्तोष है।

मीरादेवी—संस्कृत पढ़ी-लिखी इस बड़ी बहू द्वारा गिरीश के कान भरने का ही यह परिणाम है कि यह लड़का इतना मुँहफट हो गया है कि रात-दिन अपने पिताजी से जुबान लड़ाने लगा है।

मनोरमा—तभी तो मीरा बहिन की बीमारी में भी उसने इस बहू को घर का कोई भी काम करने से साफ मनाकर रक्खा है।

शारदा—अयँ! माँ की बीमारी में भी पुत्र का यह निन्द्य व्यवहार!

घोर कलजुग इसी का नाम है। (सिर हिलाते हुए) बस, आ गया घोर कलजुग इस पृथ्वी पर। जिन माँ-बाप के ऋण से पुत्र कभी उऋण नहीं हो सकता, उनके प्रति यह नीचता और कृतघ्नता !

मीरादेवी—यही नहीं बहिन, इस गिरीश ने बहू को न केवल अपनी; बल्कि बहू के माँ-बाप की भी शपथ देकर घर का कोई भी काम न छूने की हिदायत दे रक्खी है।

शारदा—तब आपने बड़ी बहू को चाय लाने के लिए व्यर्थ ही भेजा, बहिन !

मीरादेवी—यदि न भेजती, तो आपको यह सारी गाथा मालूम कैसे हो सकती !

मनोरमा—ठीक कहती हो, बहिन ! धिक्कार है इस बहू की संस्कृत शिक्षा पर और इसके पिता-द्वारा दी गई दीक्षा पर, जो मीरादेवी के प्रति चार दिन भी यह बहू और इसके पिता ऐसा व्यवहार न रख सके कि इन्हें लड़का ब्याहने का कोई सुख-सन्तोष हुआ होता। लेन-देन के नाम पर भी गिरीश के पिताजी ने समधी पर कोई दबाव नहीं डाला। और वह समधी महोदय बर्तन तथा बिस्तर तक ठीक-ठीक नहीं दे सके। इतने पर भी इन लोगों का मन मैला नहीं हुआ। उनकी जगह कोई दूसरा होता, तो इस प्रकार मुफ्त में ग्रेजुएट दामाद पाकर गिरीश के पिताजी का आजन्म ऋणी रहता। परन्तु समधी ने तो उल्टे इनका अपमान करके अपनी हीनता का परिचय दिया है !

शारदा—तुम ठीक कहती हो, मनोरमा ! गिरीश के पिताजी बेचारे अब तक अपना पेट काटकर विवाह का कर्ज प्रतिमास चुकाए जा रहे हैं और लड़के-बहू की यह अशिष्टता और उच्छृङ्खलता उनके हृदय पर रात-दिन घन पटक रही है ! समधी की कृतघ्नता पर क्या कहा जाय ! शिव-शिव ! घोर कलजुग और किसे कहते हैं !

मीरादेवी—और इस नाटक के सूत्रधार भी स्वयं बड़ी बहू के पिता

मास्टर साहब हैं। उन्होंने न केवल गिरीश के पिताजी का अपमान किया, बल्कि इस गिरीश को भी पितृद्रोही बनाने में पूरा-पूरा योग दिया।

मनोरमा—सो तो जब वह यहाँ आये थे, तब मैं स्वयं उनकी बातें सुन-कर समझ चुकी हूँ। उन्होंने भूलकर भी इस गिरीश को अपने माता-पिता का अनादर करने, बात-बात में विषाक्त उत्तर देकर माँ-बाप को क्लेश पहुँचाने और भारतीय मर्यादा की सीमाओं से बाहर जाने पर कभी रोका नहीं। उल्टे यही कहा कि आपका लड़का आपसे विद्रोह करता है, तो मैं क्या करूँ—मुझे इससे मतलब ही क्या?

शारदा—(हाथ मटकाते हुए) क्यों न कहेंगे ऐसा! समधी यह जानते हैं न, कि गिरीश बी० ए० होकर इतना अर्थोपार्जन कर ही लेगा कि उनकी पुत्री का उदर-पोषण कर उसे सुखी रख सके। फिर माँ-बाप भाड़ में जायँ, उन्हें इससे मतलब क्या? और माँ-बाप से पृथक् रहने में उनकी पुत्री को काम-धन्धा भी कम करना पड़ेगा न?

मनोरमा—तो क्या माँ-बाप के साथ रहने में उनकी पुत्री को रात-दिन कोल्हू चलाना पड़ता था? जो भी हो, गिरीश के पिताजी जब उसे एम० ए० तक पढ़ाना चाहते थे और पी० सी० एस० में भी बैठाने का निश्चय कर चुके थे, तब यह सब जानते हुए भी समधी ने इस लड़के को पथभ्रष्ट कर पितृद्रोह करने में जो योग दिया है, इसका दुष्परिणाम उनकी पुत्री को भी आज नहीं, तो कल भोगना अवश्य पड़ेगा।

मीरादेवी—दुष्परिणाम किसी को भोगना पड़े या नहीं; किन्तु हम लोगों को तो यही दुःख है बहिन, कि अपना पेट काटकर हजारों रुपए लगाकर इस गिरीश को पालने-पोसने, पढ़ाने-लिखाने और ग्रेजुएट बनाने के बदले इस लड़के ने माँ-बाप के प्रति किसी भी कर्त्तव्य का पालन आखिर क्यों नहीं किया? अपने पिता से बात करते समय यह गिरीश इतना पढ़-लिखकर भी अपनी वाणी पर तनिक भी संयम क्यों नहीं रख सकता? और, इस आदत को छोड़ देने की बात जब

कही जाती है, तो कहता है, वाणी पर संयम रखनेवाले कायर और मूर्ख होते हैं।

शारदा—और यह नहीं समझते शहजादे कि बड़ी-बड़ी युक्तियों और प्रमाणों का सहारा लेकर इस प्रकार मुँहफट होकर सयानों को अपमानजनक उत्तर देनेवाले ही सबसे बड़े अपराधी और नीच होते हैं। ऐसा करके वे अपने अपराधों पर रंगीन पर्दा डालने की ही चेष्टा किया करते हैं।

मनोरमा—रंगीन पर्दा नहीं, काला पर्दा कहो, बहिन! आश्चर्य है, गिरीश की बुद्धि को इस काले पर्दे ने ऐसा कुंठित कर दिया है कि वह दूसरी ओर की किसी भी वस्तु का—किसी भी तथ्य का—आभास तक नहीं पा सकता। वह इतना भी नहीं समझता कि उत्तर देने की अपेक्षा चुप रह जाना कितनी बड़ी महानता है? क्या सीताजी पर जो आरोप लगाया गया था, उसका उत्तर वह नहीं दे सकती थीं? परन्तु सीताजी ने कोई उत्तर न देकर पृथ्वी में समा जाना ही श्रेयस्कर समझा था।

मीरादेवी—गिरीश से इस आदर्श की आशा करना और रेत से तेल निकालना बराबर है। वह तो यह भी कह चुका है कि माँ की बीमारी पर जितना खर्च किया जा चुका है, उसका तृतीयांश भी उसकी पत्नी पर नहीं किया गया।

शारदा—छिः छिः! इस लड़के को ऐसा कहते शर्म भी न आई? यह नहीं जानता कि इस संसार में पत्नी तो दूसरी भी मिल सकती है; परन्तु माँ-बाप दूसरे नहीं मिल सकते। (कुछ रुककर) तो क्या बड़ी बहू बीमार भी रहती है और उसकी दवा-दारू करनी पड़ रही है?

मीरादेवी—बहूरानी ने इस घर में बीमारी के साथ ही पदार्पण किया था, बहिन! दोनों हथेलियाँ अपरस से सड़ रही थीं। उसके उपचार में साठ-सत्तर रुपए खर्च करने पड़े और मुझे जो सेवा-शुश्रूषा बहू की करनी पड़ी, सो अलग। फिर म्यादी बुखार आया, जिसमें स्वयं

गिरीश ने आगे बढ़कर डाक्टरी उपचार कराया और डाक्टर का बिल तो हमें चुकाना ही पड़ा। अब फिर बुखार आ रहा है बहू रानी को, जिसे लेकर यह चखचख चल रही है।

मनोरमा—गिरीश चाहता है, उसकी पत्नी का बड़े-से-बड़े डाक्टर द्वारा महँगे-से-महँगा उपचार कराया जाए।

शारदा—चाहे घर की स्थिति कुछ भी रहे? हाँ, स्वयं अर्थोपार्जन करता, तो एक बात भी थी।

मनोरमा—इससे गिरीश को क्या मतलब? पिताजी अब तक उसके विवाह का कर्ज पूरा नहीं चुका सके, माँ की बीमारी में असीम खर्च करना पड़ रहा है, जिसके बोझिल कर्ज से उनकी कमर झुक चुकी है; लेकिन गिरीश है कि उसे यह सब तनिक भी नहीं सूझता।

शारदा—तब तो मामला बहुत बिगड़ चुका है, बहिन! इस सबका परिणाम मुझे अच्छा नहीं दिखता।

मनोरमा—कहावत है न—'आउती बहू और जन्मता पूत!' इस बहू के आते ही इस घर में कलह, दरिद्रता और बीमारियों ने अपना अड्डा जमा लिया है।

शारदा—जहँ-जहँ चरण पड़ें सन्तन के, तहँ-तहँ बण्टाढार!

[इसी बीच में बड़ी बहू विमला का चाय का ट्रे लिये हुए प्रवेश। लेकिन कमरे में पैर रखते ही ट्रे उसके हाथ से छूटकर फर्श पर गिर पड़ता है और प्यालों तथा तश्तरियों के टूट जाने की कर्कश ध्वनि हो उठती है। केटली की चाय भी फर्श पर बिखर जाती है।]

विमला—(नीची दृष्टि किए हुए) पैर में धोती फँस गई, इसी लिए...

मीरादेवी—(सरोष) कैफियत देने की जरूरत नहीं। अपने मरे बिना कहीं स्वर्ग दिखा है किसी को? (कुछ रुककर और शारदा की ओर घूमकर) मैं स्वयं जाकर चाय बनाए लाती हूँ, शारदा बहिन! कष्ट और देरी के लिए क्षमा चाहती हूँ!

शारदा—नहीं बहिन, अब आप कष्ट न करें। मैं चाय की आदी नहीं हूँ। फिर आप अभी-अभी बीमारी से उठी हैं।

विमला—मैं बना लाऊँ, माताजी?

मीरादेवी—नहीं, जरूरत नहीं। तुम आराम से बैठो, नहीं तो गिरीश की शपथ की रक्षा कैसे कर सकोगी!

[विमला चुपचुप टूटे प्यालों और तश्तरियों के टुकड़े बटोरकर उस कमरे से चली जाती है।]

शारदा—यह बहू फूहड़ भी दीखती है, मीरादेवी!

मीरादेवी—सो तो है ही। मेरी बीमारी में इने-गिने चार जनों की रसोई एक बजे दोपहर तक रोते-रोते बना पाती थी। एक दिन गिरीश के पिताजी ने जब तनिक जल्दी काम करने की बात कही, तो शहजादे सारी मान-मर्यादा ताक पर रखकर उनसे ही उलझ बैठे।

शारदा—(दोनों कानों पर अँगुलियाँ रखते हुए) शिव-शिव! मैं कहती हूँ, इस लड़के ने बी० ए० पढ़कर भी भाड़ झोंका। वह ऊँची शिक्षा किस काम की, जो अपने बुजुर्गों की बात-बात में उपेक्षा करना और उनका अपमान करना सिखाती हो।

मीरादेवी—यह अपमान और उपेक्षा तो अपनी सीमा को कभी का पार कर चुकी है। मैं मानती हूँ कि गिरीश के पिताजी आजकल बहुत चिड़चिड़े हो गये हैं। परन्तु इस चिड़चिड़ाहट के मूल में क्या गिरीश का यह अमर्यादित व्यवहार और उसकी शिक्षा-दीक्षा पर किए जानेवाले असीम खर्च को जुटाने की चिन्ता ही प्रमुख नहीं है?

शारदा—क्यों नहीं, बहिन! अकेला अर्थोपार्जन करनेवाला जब आश्रितों का व्यवहार भी असन्तोषजनक पाता है, तब वह कहाँ तक चिड़चिड़ा न होगा।

मनोरमा—और पिताजी की इस चिड़चिड़ाहट को शायद गिरीश उनकी दुर्बलता समझने लगा है, इसी लिए वह बात-बात में मुँहफट हो

गया है। शायद पिता की इस दुर्बलता पर आक्षेप करने का, ग्रेजुएट होकर वह अपने-आपको अधिकारी भी समझ बैठा है।

शारदा—लेकिन गिरीश यह क्यों भूल रहा है कि पिता की अन्त्येष्टि क्रिया कर देने के बाद भी पुत्र को उसकी दुर्बलता पर आक्षेप करने का रत्ती भर अधिकार नहीं रहता।

मीरादेवी—यह सब तो उस पुत्र के लिए है बहिन, जो भारतीय आदर्शों का पालन करता हो। गिरीश तो भारतीय मर्यादा और आदर्शों के साथ अपने मा-बाप को भी त्याज्य समझ बैठा है।

शारदा—(साश्चर्य) त्याज्य समझ बैठा है! क्या मतलब ?

मीरादेवी—बस, आजकल में इस घर से बिदा होकर अपनी ससुराल जानेवाला है।

शारदा—लेकिन गिरीश यह क्यों भूल रहा है कि उसका ससुर जब अपने समधी का समुचित सत्कार तक नहीं कर सका और उनके प्रति एक दिन भी कृतज्ञ नहीं रह सका, तब वह कितने दिन तक इस दामाद का साथ देगा ?

मीरादेवी—गिरीश की बुद्धि पर रंगीन पर्दा जो पड़ गया है! वह आज इन सब बातों को नहीं समझ सकता।

शारदा—ठीक कहती हो, बहिन! ऐसा उच्छृङ्खल युवक जब तक दुनिया की ठोकरें न खा लेगा, अपनी गलती कभी स्वीकार न कर सकेगा और सही मार्ग पर न चल सकेगा।

मीरादेवी—अच्छा, बहिन! मैं कुछ नाश्ते के लिए ही ले आऊँ!

शारदा—नहीं, बहिन; इसकी जरूरत नहीं। मैं आई थी आपकी बीमारी का समाचार पूछने, लेकिन यहाँ आकर आपकी गृहस्थी की शान्ति को झुलसते देख, मैं मर्माहत हो उठी हूँ। मैं नाश्ता-पानी कुछ न करूँगी। बहुत देर हो चुकी है। अब मैं जा रही हूँ। एक बात याद रक्खो बहिन, आजकल की सन्तान हम लोगों के लिए अभिशाप सिद्ध हो रही है। इससे कोई आशा करना ही मूर्खता है।

मनोरमा—इस गिरीश से तो सचमुच अब कोई आशा नहीं रही।

मीरादेवी—जब अपना शरीर ही अन्तिम समय हमारा साथ नहीं देता, तब इस कृतघ्न पुत्र की आशा ही क्यों करूँ; लेकिन घर-घर ऐसे कुपुत्र उत्पन्न होने लगें, तो यह दुनिया एक दिन न टिक सके, सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच जाए।

मनोरमा—गिरीश जैसा कृतघ्न पुत्र भगवान् किसी को न दे! इसने कभी भूलकर भी अपने माँ-बाप को सन्तोष देने, सहारा देने और प्रसन्न रखने का कर्त्तव्य नहीं निबाहा। जब हम दुनियावाले यह समझ रहे थे कि चलो, गिरीश अब शीघ्र ही कमाने-खाने लायक हो रहा है और अपने माता-पिता के लिए बुढ़ापे का सहारा बनेगा, तभी उसने यह विद्रोह खड़ा कर दिया और माँ-बाप से पृथक् हो रहा है।

शारदा—गिरीश स्वयं तो कृतघ्न है ही, परन्तु उसे इस प्रकार विवाह के एक वर्ष के भीतर ही कृतघ्नता का विस्फोट करने और मार्ग-भ्रष्ट करने में इस बड़ी बहू का ही गहरा हाथ होना चाहिए, बहिन!

मीरादेवी—सबकी यही धारणा है।

मनोरमा—मैं तो डंके की चोट कहती हूँ कि पत्नी और विशेषकर नव-पत्नी जैसा चाहे, वैसा नाच नचा सकती है अपने पति को। यदि बड़ी बहू चाहती, तो दस दिन में गिरीश को अपने माता-पिता का सम्मान करना सिखा देती और इस गृहस्थी का कलह सदा के लिए मिटा देती।

मीरादेवी—एक बात है, बहिन! अपना दाम खोटा, तो परखैया का क्या दोष? जब हमारा पुत्र ही कुपुत्र है, तो उसे मार्गभ्रष्ट करने-वालों को हम क्या दोष दें?

शारदा—सन्तोष के लिए आप चाहे जो कहें; लेकिन मैं तो इस विद्रोह की जड़ इस बड़ी बहू को ही मानती हूँ। अच्छा, अब मैं चलती हूँ, मीरादेवी! (जाने के लिए उठ खड़ा होना) लेकिन बहिन,

इस पुत्र-विद्रोह से लगनेवाली चोट को यत्नपूर्वक और धैर्यपूर्वक भूल जाने की चेष्टा करो; नहीं तो आपके स्वास्थ्य पर इसका बड़ा भयंकर परिणाम होगा।

[इसी बीच बड़ी बहू विमला का आ पहुँचना।]

विमला—(दोनों हाथ जोड़कर) प्रणाम चाचीजी !

शारदा—खुश रहो बड़ी बहू ! तुमसे मुझे एक जरूरी बात करनी है।

विमला—(सोत्सुक) कहिए, क्या बात है ?

शारदा—तुम जितना मीठा बोलती हो बड़ी बहू, उतना ही मीठा और निश्छल तुम्हारा व्यवहार भी इस परिवार के सभी लोगों के प्रति होता, तो तुम्हारी प्रशंसा सर्वत्र होती। लेकिन देख रही हूँ, तुम्हारे आते ही मीरादेवी की सुखद और शान्त गृहस्थी में विनाशकारी आग लग चुकी है।

विमला—लेकिन इस सबके लिए मैं बिलकुल दोषी नहीं हूँ, चाचीजी ! 'कोई' मेरा कहना ही न माने, तो मैं क्या करूँ ?

शारदा—अपने आपको इस प्रकार निर्दोष कहनेवाला भी कभी-कभी दोषी होता है। नारी यदि अपने पति को सन्मार्ग पर नहीं ला सकती, तो उसका नारीत्व व्यर्थ है। इससे अधिक मैं तुमसे कुछ नहीं कहना चाहती, बड़ी बहू !

विमला—यही तो मेरा दुर्भाग्य है, चाचीजी ! मेरी कैफियत सुननेवाला कहीं कोई नहीं है।

शारदा—कोई सुनेगा क्यों ? तुम लोग जो कुछ कर रहे हो, वही क्या कम है तुम दंपति की कर्त्तव्यपरायणता अथवा कृतघ्नता की गहराई नापने के लिए ?

मीरादेवी—मैं इस बड़ी बहू से हजार बार यह भी कह चुकी हूँ शारदा बहिन, कि हो सकता है, तुम इस मामले में बिलकुल निर्दोष रहो; परन्तु दुनियावाले तुम्हीं पर सन्देह कर रहे हैं। कारण, तुम्हारे

आते ही इस घर में कलह और अशान्ति के बादल उमड़-घुमड़कर बरसने लगे हैं।

शारदा—सुनो बड़ी बहू ! तुम्हारी सास ठीक कह रही हैं। और, दुनिया वालों का सन्देह भी निराधार नहीं कहा जा सकता। नारी ही पुरुष की शक्ति मानी गई है। फिर नवविवाहिता पत्नी क्या अपने पति को सन्मार्ग पर भी नहीं ला सकती ? क्या वह अपने माता-पिता के प्रति किए जानेवाले अनिवार्य कर्त्तव्य को पूरा करने की प्रेरणा भी नहीं दे सकती अपने पति को ? मैं फिर जोर देकर कहती हूँ कि यदि तुम यह सब नहीं कर सकतीं, तो लाख निर्दोष रहने पर भी दुनिया की दृष्टि में तुम्हीं दोषी मानी जाओगी और लांछित भी तुम्हीं को होना पड़ेगा।

मीरादेवी—इस बड़ी बहू को या गिरीश को कुछ भी समझाना व्यर्थ है, बहिन ! ये दोनों अपने-आपको बृहस्पति का अवतार समझते हैं। लेकिन मैं इन्हें प्रथम श्रेणी का कृतघ्न और मूर्ख समझती हूँ।

शारदा—तब तो यही कहना पड़ेगा कि मूरख हृदय न चेति, जो गुरु मिलहिं विरंचि सम। (आगे बढ़ते हुए) अच्छा, बहिन, नमस्ते।

मीरादेवी—(दोनों हाथ जोड़कर धीमे स्वर में) नमस्ते, बहिन !

पर्दा

माटी की मूरत

पात्र-परिचय

सवितादेवी—एक सम्पन्न घर की श्रीमती
रम्भा—सविता की पुत्री
सरला—सविता की पुत्रवधू
नीला—सविता की परिचारिका
रूपा—नीला की पुत्री
हेमा—रूपा की सहेली

पहला दृश्य

[रात का पहला पहर। नीला की कुन्द कोठरी। देहरी के भीतर कोठरी में मन्द-मन्द-सा जलता हुआ एक दीपक। देहरी के बाहर नीला की पुत्री रूपा प्रतीक्षारत उदास-उन्मन-सी बैठी है।]

रूपा—(अपने-आप धीमे स्वर में) इतना अँधेरा हो गया; परन्तु माँ अब तक नहीं लौटी। (सहसा चौंककर) वह रही शायद माँ। ऊँहूँ! यह जो छाया-सी दीख रही है, वह माँ नहीं हो सकती। (कुछ क्षणों में आगत छाया को अधिक निकट देखकर) यह तो हेमा है शायद।

हेमा—(रूपा के सामने आकर) अरे! आज क्या अब तक मौसी काम से नहीं आई, रूपा?

रूपा—(दबे स्वर में) नहीं, हेमा!

हेमा—(रूपा के निकट बैठकर) इसी लिए तू उदासी की मूरत बनकर बैठी है—माटी की मूरत!

रूपा—सच कहती हो, हेमा! हम गरीब मजदूर सचमुच माटी की मूरतें हैं—ऐसी मूरतें, जिन्हें धन-पैसोंवाले कुम्हार जैसा चाहें गढ़ लें और जब चाहें तोड़ डालें!

हेमा—अरे! मैंने तो हँसी-हँसी में तुझे माटी की मूरत कह दिया रूपा; लेकिन तू यह सब क्या कहने लगी?

रूपा—मैं ठीक कह रही हूँ, हेमा! अब यही देखो न, आज इतनी रात भीग गई; लेकिन मेरी माँ अब तक काम से नहीं लौट सकी। माटी की मूरत ठहरी न! कुछ कर नहीं सकती, कुछ बोल नहीं सकती। जब मालकिन छुट्टी देंगी, तभी आ सकेगी न!

हेमा—नौकरी करना ही माटी की मूरत बन जाना है, रूपा! नौकरी करनेवाले का कुछ कहना-सुनना ठीक नहीं समझा जाता। फिर, मौसी कह रही थीं कि अब दो रुपये महँगाई के अधिक भी देने लगी हैं मालकिन।

रूपा—हाँ, बहिन ! महँगाई के नाम पर जो दो रुपये अधिक मिलने लगे हैं, वही तो अब वसूल किए जाते हैं। पहले जहाँ शाम होते ही माँ को छुट्टी मिल जाती थी, अब दिया-बत्ती हो जाने पर भी माँ का काम पूरा नहीं हो पाता। कभी-कभी तो रात को दस बजे लौटती है माँ।

हेमा—तो क्या मौसी से अब अधिक काम लेने लगी हैं मालकिन ?

रूपा—हाँ, बहिन ! पहले केवल बच्चों को ही घुमाने-फिराने का काम था; लेकिन अब तो घर के ढेर-से ऊपरी काम लिये जाते हैं।

हेमा—तब तो महँगाई देना न देना बराबर ही है, रूपा !

रूपा—बराबर कैसे है, हेमा ? महँगाई के नाम पर जो कुछ भी ये बड़े आदमी देने लगते हैं, उसकी डुग्गी पीटी जाती है कि नौकर की गरीबी पर तरस खाकर यह उदारता बरती गई है।

हेमा—लेकिन इसे उदारता कौन कहेगा, रूपा ? जब यह ध्यान रक्खा जाता है कि बीच-बीच में अधिक काम भी लिया जाए, तब उदारता कहाँ रही ?

रूपा—बड़े आदमियों की समझ में तो यह उदारता ही है, हेमा !

हेमा—हाँ, बहिन ! बड़े आदमियों को इससे क्या मतलब कि काम करने-वाले का पेट भरता है या नहीं। उन्हें तो अपने काम से नाता रहता है। मौसी जिस घर में काम करती हैं, वह भी बहुत बड़ा घर है। उनकी दवाओं की दूकान इस शहर में एक ही है। उनका बड़ा लड़का भी डाक्टर है। ढेरों रुपये कमाता है वह। किसी भी मरीज को देखने गया नहीं कि बस, खड़े-खड़े पाँच रुपये गिना लिये। फिर चाहे वह मरीज मरे या बचे, उसे कोई मतलब नहीं।

रूपा—(हँसी रोकते हुए) यह तूने खूब कहा, हेमा ! (एक क्षण रुककर) माँ की यही सब उलझन देखकर कल मैंने माँ से कहा था कि अब मैं भी कहीं नौकरी करने लगूँ, तो कुछ सहारा ही मिले तुमको।

हेमा—तब क्या कहा मौसी ने ?

रूपा—बहुत बिगड़ी मुझ पर। कहने लगी, जब तक मेरे हाथ-पाँव चलते हैं, तुझे कभी नौकरी न करने दूँगी। जनम भर तुझे मेरे घर नहीं रहना है कि बिना नौकरी कराए मेरा काम न चलेगा। आजकल जवान लड़की को किसी के घर नौकरी पर भेजना ठीक नहीं।

हेमा—माँ की ममता ऐसी ही होती है, रूपा! मौसी तुम्हें कभी किसी के घर काम करने न भेजेंगी।

रूपा—लेकिन हेमा, एक बात मेरी समझ में नहीं आती।

हेमा—वह क्या?

रूपा—यह कि आप भला, तो जग भला। जब हम सँभलकर रहेंगे और दूसरों का कुछ बिगाड़ेंगे नहीं, तो दूसरे भी हमारा क्या बिगाड़ सकेंगे, हेमा?

हेमा—बहुत-कुछ बिगाड़ देते हैं, रूपा! तुम अभी इन बातों को नहीं समझ सकतीं।

रूपा—अरे! माँ भी यही कहती थी, और तुम भी यही कह रही हो, हेमा! आखिर मुझे भी तो बतलाओ, यह गोरखधंधा है क्या?

हेमा—बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं, रूपा! जो बतलाई नहीं जातीं। अवस्था और परिस्थितियों के साथ-साथ हम अपने-आप उन्हें समझने लगते हैं।

रूपा—तुम भी नहीं बतलातीं और माँ भी नहीं। अच्छा है, न बतलाओ। मैं भी ऐसी बातें जानने के लिए क्यों अधीर बनूँ, जो अपने-आप आगे चलकर मालूम हो जायँगी। (कुछ रुककर) वह देख, सामने फैले अन्धकार में शायद माँ आ रही है।

हेमा—(ध्यानपूर्वक छायाकृति को देखकर) हाँ रूपा! मौसी ही आ रही है।

[कोठरी के निकट नीला का आगमन]

रूपा—(माँ की तरफ बढ़कर) आज तो बहुत देर से लौटी, माँ?

नीला—क्या करूँ, बेटी! दूसरों की नौकरी जो ठहरी! देर-अबेर होती

ही रहती है। (देहरी के समीप बैठते हुए) सो भी आज अभी छुट्टी थोड़े ही मिली है।

रूपा—तो क्या अभी फिर जाओगी, माँ ?

नीला—हाँ, बेटी! लेकिन आज मालकिन ने मुझे जो फिर से बुलाया है न, यह एक खुश-खबरी है, रूपा!

रूपा—रहने भी दो, माँ! दिन-भर काम और रात में भी काम। और, इसे तुम कहती हो खुश-खबरी ?

नीला—सच कहती हूँ, बेटी! आज कोई काम थोड़े ही करना है वहाँ।

रूपा—तो कौन-सा आराम करने के लिए बुलाया होगा मालकिन ने ?

नीला—अरे, आज स्वतंत्रता-दिवस की खुशी में प्रदर्शनी के मैदान में रोशनी और आतिशबाजी हो रही है। उसे देखने हमारी मालकिन जा रही हैं। आज वहाँ मेला भरेगा। उसी में जाने के लिए मालकिन ने मुझे बुलाया है। कहने लगीं, रूपा को भी ले आना। हम सबके साथ वह भी देख लेगी तमाशा। चलेगी न ?

रूपा—तमाशा देखने की बात है, तो क्यों न चलूँगी, माँ!

नीला—यह तो हुई एक खुश-खबरी। अब दूसरी खुश-खबरी सुनाऊँ ?

रूपा—वह भी सुनाओ, माँ!

नीला—रम्भा बेटी ससुराल से लौट आई हैं। वे भी तुझे पूछ रही थीं। उन्होंने भी तुझे बुलाया है।

रूपा—तब तो मैं दौड़ती हुई चलूँगी, माँ! रम्भा दीदी मुझे बहुत चाहती हैं।

नीला—तो चलो, हम झटपट रोटी खा लें, रूपा! (हेमा की तरफ देखकर) चल हेमा, तू भी रोटी खा ले।

हेमा—नहीं, मौसी! मैं तो खा चुकी हूँ। अब मैं घर जाती हूँ।

नीला—कब से बैठी है यहाँ ? सच बेटी, रूपा को मैं तेरे ही सहारे इस कोठरी में अकेली रहने देती हूँ।

हेमा—इसी लिए तो मैं खाना खाकर यहाँ चली आती हूँ, मौसी ! अच्छा, अब मैं जाती हूँ, रूपा !

रूपा—तुम भी चलना चाहो, तो घर जाकर माँ से पूछ आओ ।

हेमा—मैं अपने बापू के साथ जाऊँगी, रूपा !

रूपा—तब ठीक है

[हेमा का प्रस्थान । नीला और रूपा भोजन करने कोठरी में चली जाती हैं ।]

... ...

दूसरा दृश्य

[रात का पहला पहर । श्रीमती सवितादेवी की हवेली । सवितादेवी एक कमरे में अपनी पुत्री रम्भा और पुत्रबधू सरला के साथ परिचारिका नीला के आने की प्रतीक्षा कर रही हैं । श्रीमती सवितादेवी एक कोच पर आराम से बैठी हैं । कुछ अन्तर पर दूसरे कोच पर रम्भा और सरला धीमे स्वरों में गपशप कर रही हैं । सरला की गोद में उसका पुत्र—नन्हें—झपकने लगा है । दीवार-घड़ी में टन्-टन् करके सुरीले स्वरों में आठ बज रहे हैं ।]

सविता—(घड़ी की ओर देखकर) लो, आठ भी बज गए । पूरा एक घंटा हो चुका, लेकिन नीला महारानी अब तक भोजन करके वापस न आ सकीं ! इन नौकरों-मजदूरों के साथ कोई कितनी ही उदारता क्यों न बरते, लेकिन ये कभी समय पर और जल्दी काम करना नहीं जानते ।

रम्भा—आती ही होगी, माँ ! हम लोगों की तरह उसके घर में नौकर-चाकर तो हैं नहीं कि भोजन तैयार मिल सके बेचारी को, और आँधी की तरह जाकर तूफान की तरह लौट सके ।

सविता—न सही नौकर-चाकर । खासी जवान लड़की तो है घर में । क्या वह रोटी भी बनाकर न रखती होगी उसके लिए ?

रम्भा—तुम यों ही झुँझला रही हो, माँ; नहीं तो मैं एक बात कहना चाहती थी। नाराज न होने का वचन दो, तो कह दूँ ?

सविता—(मुसकराते हुए) मेरी नाराजी का ध्यान तो रखती है तू। अच्छा, कह क्या कहना चाहती है ?

रम्भा—गरीब हो या अमीर, अपनी सन्तान पर सबका अगाध स्नेह रहता है, माँ ! मैं भी तो तुम्हारी लड़की हूँ—खासी जवान ! लेकिन मुझसे कोई काम कराती हो कभी ?

सविता—चल-चल, रहने दे अपनी बात ! कोई भी बात हुई नहीं कि लगी अपना उल्लेख करने ! तेरे-जैसा भाग्य कहाँ उसका, जो तू अपनी मिसाल दे रही है ?

रम्भा—इसी लिए तो मैं कहती हूँ माँ, कि उसका भाग्य जब मेरे भाग्य की तुलना में हीन है, तब हमें उसके प्रति सहानुभूति से काम लेना चाहिए। परमात्मा ने यदि हमें सम्पन्न बनाया है, तो इन गरीब मजदूरों पर दया करना ही हमारी मानवता का आदर्श हो सकता है। इनकी तनिक-तनिक-सी गलतियों पर झुँझला उठने में नहीं, बल्कि क्षमा कर देने में ही हमारी शालीनता है।

सविता—यह क्या मैं जानती नहीं रम्भा, कि हमें क्षमाशील होना चाहिए; परन्तु नौकरों-चाकरों की गलतियों पर उन्हें डाँट-फटकार न दिखलाई जाय, तो वे सीधे हमारे सिर पर चढ़ने लगते हैं। रोटी बनानेवाले महाराज का उदाहरण तुम जानती ही हो।

रम्भा—नौकर जब सिर पर चढ़ने लगें, तब उन्हें आगाह करना ही चाहिए, माँ ! महाराज-जैसी उद्दण्डता करनेवाले को डाँट-फटकार उतनी ही जरूरी है, जितनी किसी रोगी को औषध। लेकिन मैं समझती हूँ, नीला ने तो ऐसी उद्दण्डता कभी नहीं की। वह तो माटी की मूरत है माँ, माटी की मूरत ! कभी लौटकर जवाब तक नहीं देती। माना कि आज घर से लौटने में उसे कुछ विलम्ब हो रहा है; परन्तु जब तक हमें इस विलम्ब का कारण मालूम न हो

जाय, इस प्रकार तुम्हारा खीझना व्यर्थ है। तुम नाहक परेशान हो रही हो। अभी बहुत समय है। आतिशबाजी दस बजे शुरू होगी, माँ!

सविता—लेकिन वहाँ चलकर कुछ चीजें-वीजें भी तो हमें खरीदनी होंगी न! यह तो होगा नहीं, कि मेले में चलकर केवल आतिशबाजी देखकर हम घर लौट आयँ।

रम्भा—सब हो जायगा, माँ! वह आती ही होगी। (सामने के बरामदे की ओर देखते हुए) लो, वह रही नीला और रूपा!

[रूपा के साथ नीला का प्रवेश]

नीला—(दबे गले से) बहुत देर हो गई, मालकिन! क्या करूँ, घर जाते समय रास्ते में रूपा की एक मामी मिल गई। भाई-भतीजों की खबर सुनाते-सुनाते उसने बहुत समय ले लिया।

रम्भा—कोई बात नहीं, नीला! तभी माँ कह रही थीं कि नीला तो बहुत जल्दी काम करनेवालों में से है, फिर जाने क्यों आज इतनी देर लगा रही है!

सविता—(पुत्री की यह बात सुनते ही मुसकराते हुए) सो भी इस नन्हें का खयाल करके मैं कह रही थी, नीला! देख न, अब यह सो गया है, और तुझे ही इसे गोद में लेना है न!

नीला—इसी लिए तो मैं कैफियत दे रही हूँ, मालकिन! आपको नाराज करके मैं कहाँ रहूँगी! गलती के लिए माफी चाहती हूँ, मालकिन!

सविता—कोई बात नहीं। अच्छा, अब चलें हम।

[सबके साथ सवितादेवी का कमरे से प्रस्थान]

सविता—(बाहर जाते ही तैयार खड़ा ताँगा देखकर) अरे! यह ताँगा कैसे आ गया? मैंने तो नौकर से कहा नहीं था।

सरला—आपने नहीं कहा तो क्या हुआ, माँ! मैंने कह दिया था।

[ताँगे पर सबका बैठना और ताँगे का प्रस्थान]

सविता—(चलते हुए ताँगे पर) कितने पैसे देने होंगे इस ताँगेवाले को, बहू ? नौकर से पूछ लिया है तुमने ?

सरला—हाँ, पूछ चुकी हूँ। एक रुपया देना होगा।

[टन-टन, टुन-टुन करते हुए ताँगे का हवा से बातें करते हुए दौड़ना।]

... ...

तीसरा दृश्य

[रात का दूसरा पहर। शहर के बाहर प्रदर्शनी का मैदान। ताँगे से उतरकर सबके साथ श्रीमती सवितादेवी का मेले के मुख्य द्वार के सामने प्रवेश। सहस्रों बिजली के लट्टुओं का आँखों में चकाचौंध भरनेवाला रंग-बिरंगा काश।]

नीला—टिकट ले आऊँ, मालकिन ?

सविता—नहीं, इस मेले में टिकट नहीं लेना पड़ता, नीला!

रम्भा—तो अब भीतर चलें, माँ! यहाँ फाटक पर खड़े रहना ठीक नहीं।

सविता—हाँ बेटी, चलो। तनिक इस प्रवेश-द्वार की, आँखों में चका-चौंध भरनेवाली यह रंग-बिरंगी रोशनी देखने लगी थी।

[प्रवेश-द्वार में से सबका मेले के भीतर प्रवेश। आगे-आगे श्रीमती सवितादेवी, उनके पीछे सरला बहू, फिर गोद में नन्हें को लिये नीला, तब रम्भा और रूपा।]

रूपा—मजे में रहीं, दीदी ?

रम्भा—(प्रश्न की तह में जाकर कुछ सकपकाते हुए धीमे स्वर में) कैसा प्रश्न पूछ रही है, रूपा ? ऐसा नहीं पूछा जाता।

रूपा—क्यों भला ?

रम्भा—जब तू पहले-पहल ससुराल जायगी, तब अपने-आप समझ लेगी

और किसी के ऐसा प्रश्न करने पर तू भी यही कहेगी, जो मैं कह रही हूँ ।

रूपा—अच्छा दीदी, अब कभी न पूछूँगी ऐसी बात । लो, मैं अपना कान पकड़ती हूँ ।

रम्भा—(मुसकराते हुए) कोई कसूर तो तुमने किया नहीं, रूपा ! अच्छा, तू मजे में रही न ?

रूपा—हाँ, दीदी ! मैं मजे में हूँ ।

सविता—(खिलौनों की एक दूकान पर ठहरकर) रम्भा, इधर आओ, बेटी !

रम्भा—(सविता के निकट पहुँचकर) क्या बात है, माँ ?

सविता—नन्हें के लिए कुछ खिलौने खरीदोगी या गपशप ही करती रहोगी ?

रम्भा—जो तुम कहोगी, वह पहले करूँगी, माँ । गपशप बाद में भी कर सकती हूँ । और, नन्हें के लिए खिलौने तो सबसे पहले खरीदूँगी ।

सविता—तो कुछ खिलौने खरीद लो यहाँ ।

[रम्भा और सरला दोनों का कुछ खिलौने खरीदना और दूकानदार को उनका मूल्य देकर आगे बढ़ना ।]

रम्भा—माँ, अभी एक बढ़िया-सा हाथी और एक मोटर भी नन्हे के लिए खरीदनी है । उसे हाथी और मोटर बहुत पसन्द है ।

सविता—अवश्य खरीदो, बेटी । वह रही सामने दूकान ।

रम्भा—दो मिनट में खरीद लूँगी, माँ । देर नहीं लगाऊँगी ।

[सामने की दूकान पर जाकर रम्भा का एक मोटर और हाथी खरीदना और सभी खिलौनों को एक झोले में भर उसे हाथ में लटकाकर स्वयं चलना ।]

रूपा—दीदी, यह झोला मुझे दे दें । आप क्यों लिये हैं ?

रम्भा—अधीर क्यों हो रही है ! तेरे लिए भी दूसरा झोला या बण्डल अभी तैयार हो जायगा, रूपा !

सविता—हाँ, वह सामने साड़ियों और शाल-दुशालों की दूकान है। चलो, कुछ साड़ियाँ और एकाध शाल भी खरीदना है।

सरला—ढेर-सी साड़ियाँ तो घर में हैं माँ, फिर क्या करेंगी और खरीदकर?

सविता—वाह! मेले में आकर साड़ियाँ भी न खरीदीं, तो क्या किया? अधिक नहीं, तो तीन साड़ियाँ अवश्य खरीदूँगी। चलो, यह सौदा भी झटपट कर डालें।

[साड़ियों और शाल-दुशालों की दूकान पर जाकर रम्भा और सरला की पसंदगी से सवितादेवी तीन साड़ियाँ और एक शाल खरीदती हैं।]

सविता—(दूकानदार को दस-दस रुपये के सात नोट देकर खरीदे हुए वस्त्रों का बण्डल लेकर) ले रूपा! यह कपड़ों का बण्डल तू सँभाल। खूब सँभालकर रखना। नर-नारियों की इस रेलमठेल में बहुत सजग रहने की जरूरत है।

[सबके साथ श्रीमती सवितादेवी का आगे बढ़ जाना। पीछे-पीछे रम्भा, रूपा और सरला का धीमे-धीमे बातचीत करते हुए चलना]

रम्भा—अरे! एक बात तो मैं भूल ही गई, भाभी!

सरला—वह क्या, बीबीजी!

रम्भा—इस रूपा बेचारी को मैंने कुछ भी न ले दिया। (रूपा की तरफ घूमकर) क्या लेगी, रूपा?

रूपा—जो आप ले दें, दीदी!

सरला—हाँ, रम्भा! इस रूपा को तुम अवश्य कुछ ले दो। ससुराल से लौटकर तुमने उसे अभी दिया ही क्या है?

रम्भा—तो क्या ससुराल से लौटकर अपनी सखी-सहेलियों को कुछ देना भी पड़ता है, भाभी?

सरला—अवश्य।

रम्भा—क्यों भला?

सरला—(रम्भा के कान के पास मुख करके धीमे स्वर में) साजन के साथ पहले-पहल रह आने की खुशी में।

रम्भा—(मुसकराते हुए) हुश !

सविता—(चलते-चलते सहसा रुककर और पीछे की तरफ घूमकर) और कुछ लेना है, रम्भा ?

रम्भा—हाँ, माँ ! इस रूपा के लिए मैं अपनी ओर से एक साड़ी खरीदना चाहती हूँ।

सविता—(मुसकराते हुए) बहुत प्रसन्न दीखती है रूपा पर।

रम्भा—मैं सोचती हूँ माँ, हम सबने इतनी ढेर-सी चीजें खरीदीं; लेकिन इस बेचारी के लिए दो चूड़ियाँ भी नहीं खरीदीं हमने !

सविता—जरूर खरीदो, बेटी ! रूपा तेरी सहेली है न !

रूपा—(सकपकाते हुए) दीदी, मैंने तो... .।

रम्भा—(बीच में ही टोकते हुए) मैं जानती हूँ, तूने यों ही कह दिया था, और तू कुछ नहीं चाहती। लेकिन जब मैं तुझे दे रही हूँ, तो क्या नहीं लेगी मेरी खरीदी हुई साड़ी ?

नीला—बेटी, तुम्हारा दिया अन्न-पानी जब हम माँ-बेटी खाती है, तब......

रम्भा—बस, ठीक है। चलो, उस सामने की दूकान पर। (पुनः साड़ियों की दूकान पर पहुँचकर) हाँ रूपा, एक बढ़िया-सी पाँचगजी रंगीन साड़ी तो पसन्द करो।

रूपा—आप जो ठीक समझें, ले लें दीदी। आपकी दी हुई कोई भी चीज मेरे लिए अनमोल होगी'।

रम्भा—(दूकानदार से एक रंगीन पाँचगजी साड़ी लेकर रूपा के हाथ पर धरते हुए) यह लो, रूपा !

सविता—अब और कुछ तो नहीं लेना है ?

रम्भा—नहीं, माँ !

सविता—तो चलो, अब आतिशबाजी के मैदान में चलें।

रम्भा—(कलाई-घड़ी देखकर) पाँच-सात मिनट ही बाकी हैं। आतिश-बाजी ठीक दस बजे शुरू हो जायगी।

[आतिशबाजी के मैदान की ओर सबका प्रस्थान]

...　　　　...　　　　...

चौथा दृश्य

[मेले का भीतरी भाग जिसके बीचोंबीच लकड़ी के सींखचों से घिरा हुआ एक भू-खण्ड। सींखचों के भीतर कुछ बेंचों और कुर्सियों पर आसीन अनेक सम्भ्रान्त नर-नारी।

श्रीमती सवितादेवी सींखचों से आवेष्टित इस भू-खण्ड के बाहर पहुँचकर सबके साथ खड़ी हो जाती हैं।]

रम्भा—इन सींखचों के बाहर खड़े रहकर ही क्या आतिशबाजी देखोगी, माँ ?

सविता—क्या हानि है, रम्भा ? आतिशबाजी के मैदान में बैठने के लिए घण्टों पहले आने की जरूरत थी, फिर सींखचों के भीतर चलते समय उस प्रवेश-द्वार पर पुरुषों के हजारों धक्के हमें खाने पड़ेंगे।

रम्भा—ठीक कह रही हो, माँ ! लेकिन धक्के तो शायद यहाँ भी कम न खाने पड़ेंगे।

सविता—यहाँ तो इतनी सारी खुली जगह पड़ी है, बेटी ! फिर आतिश-बाजी तो दूर से खड़े होकर भी बखूबी देखी जा सकती है।

रम्भा—लो, भीड़ तो अब यहाँ भी होने लगी। वह देखो, सभी दर्शक इसी तरफ बढ़े आ रहे हैं।

सविता—स्वतन्त्रता-दिवस का मेला ठहरा, बेटी ! बढ़ने दो भीड़। हाँ, अपने-अपने हाथों की चीजों का ध्यान अवश्य रखना। (रूपा की तरफ घूमकर) रूपा, तू भी सावधानी से आतिशबाजी देखना ! समझी !

रूपा—जी, मालकिन !

नीला—मैं तो नन्हें को गोद में लिये हूँ, बेटी ! तू सँभलकर कपड़ोंवाला बण्डल लिये रहना।

रूपा—मैं दोनों हाथों से इसे दबाए हूँ, माँ !

रम्भा—देख नीला, वह रंग-बिरंगा फूलों का झाड़ कैसा सुन्दर फूट रहा है !

रूपा—अरे, उसमें से तो आसमान के तारे फूटने लगे, दीदी ! (कुछ रुककर) और लो, बम की तरह धड़ाका भी हो रहा है।

रम्भा—चुपचाप देखती रह, रूपा ! अभी तो और भी रंग-बिरंगी आतिशबाजी होगी।

रूपा—मेरी आँखों में तो चकाचौंध भर रही है, दीदी ! ओह ! कितना रुपया यहाँ इस आतिशबाजी में फूँका जा रहा है ! कितना प्रकाश यहाँ जगमगा रहा है ! दिवाली हो रही है ! लेकिन जो गरीब मजदूर अपने घर में मिट्टी के तेल का एक दीपक भी नहीं जला सकते, उन्हें कोई इतना रुपया कभी न देगा—उनकी गरीबी दूर करने की किसी को कोई चिन्ता न होगी।

नीला—(धीमी वाणी में) चुप भी रह, रूपा ! तेरी ये बातें मालकिन सुनेंगी, तो बहुत नाराज होंगी।

रूपा—हो लेंगी नाराज तो क्या छीन लेंगी, माँ ? तुम्हारी तरह मैं माटी की मूरत नहीं। मालकिन कुछ भी कहती रहें, तुम तो कभी कुछ बोलती नहीं। पर मैं चुप नहीं रह सकती।

रम्भा—क्या है रूपा, मुझसे कहो।

रूपा—(मन मसोसकर) कुछ नहीं, दीदी !

रम्भा—तो चुपचाप देखो आतिशबाजी। बस, थोड़ी ही देर में समाप्त होती है, फिर तुम अपनी बात मुझसे जी खोलकर कहना।

रूपा—अच्छा, दीदी।

रम्भा—देख, अब भीड़ बहुत बढ़ रही है। काफी धक्कम-धुक्की हो रही है। सँभलकर रहना, रूपा।

नीला—गजब करते हैं देखनेवाले भी! स्त्रियों को धक्का देने में भी इन्हें लाज नहीं आती!

सविता—मेला-ठेला इसी को कहते हैं, नीला! बस, अब आतिशबाजी समाप्त होने में देर नहीं।

रूपा—(सहसा चीखकर) दीदी! चोर! कपड़ों का बण्डल...

रम्भा—क्या हुआ, रूपा?

रूपा—कपड़ों का बण्डल किसी ने झटक लिया, दीदी!

सविता—किसने झटक लिया? कहाँ गया चोर?

रूपा—यही देख सकती, तो मैं उसे पकड़ न लेती, मालकिन! मैं आतिशबाजी देख रही थी कि अचानक एक झटका मुझे लगा और मेरे हाथ का कपड़ों का बण्डल गायब हो गया।

सविता—(खीझकर आवेश में) गायब हो गया! इतनी बड़ी लड़की है—खासी जवान! लेकिन इतना भी सहूर नहीं कि कपड़ों का जरा-सा बण्डल हाथ में दाबकर रख सके।

रम्भा—लो, आतिशबाजी भी समाप्त हो गई! अब चोर का पता लगाना भी सम्भव नहीं। यहाँ खड़े रहने से कोई लाभ नहीं, माँ! चलिए, मेले के बाहर चलें, नहीं तो और भी धक्के खाने पड़ेंगे।

सविता—हाँ, चलो बाहर चलें।

[सबके साथ सवितादेवी मेले के बाहर पहुँचकर बिजली के एक खम्भे के पास खड़ी हो जाती हैं।]

सविता—मालूम पड़ता है, रूपा ने किसी पहचानवाले को जान-बूझकर कपड़ों का बण्डल दे डाला है, तभी यह पता न चला कि कौन ले गया। जब इसने देख लिया होगा कि पहचानवाला पकड़ से बाहर जा चुका है, तब यह चीखी-चिल्लाई होगी। मक्कार कहीं की! पुलिस के हवाले कर दूँ, तो सारी मक्कारी भूल जायगी।

नीला—(साश्चर्य) यह आप क्या कह रही हैं, मालकिन! रूपा की पहचान तो मुहल्ले भर में किसी से नहीं है। फिर रम्भा बेटी ने

बारह रुपये की जो साड़ी लेकर दी थी, उसे भी तो अभागिन खो चुकी उसी बण्डल के साथ। अब आप यह कलंक नाहक मढ़ रही हैं, मालकिन! (कहते-कहते कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है और आँखों से आँसू टपकने लगते हैं।)

रम्भा—अरे, जो हुआ सो हुआ। तू रो क्यों रही है, नीला? आँसू बहाने से आखिर मिल क्या जायगा?

सविता—(बीच में ही क्रोधावेश में) बड़ी आई कलंकवाली! यदि यह बात है, तो जा अभी से तेरी छुट्टी। ऐसी नौकरानी मुझे नहीं चाहिए। ला, नन्हे को मुझे दे। (और झटककर नन्हें को नीला से स्वयं ले लेती हैं।)

रम्भा—माँ, अब क्रोध करने से क्या वस्त्रों का बण्डल हमें मिल जायगा?

सविता—तू चुप रह, बेटी! रोटी का जरा-सा टुकड़ा यदि कुत्ता ले भागता है, तो मानव क्रोध से झल्ला उठता है। फिर, यह तो सैकड़ों रुपये की चोट है।

नीला—जब गलती हो ही गई है, मालकिन, तो उसे माफ भी करना होगा न?

सविता—(झल्लाते हुए) माफ भी करना होगा? दबे हुए हैं न हम तुझसे? मैं कहती हूँ, तू हट जा मेरे सामने से। मेरे घर में अब तुझे कोई जगह नहीं।

रूपा—(हाथ जोड़कर) माफ करना, मालकिन! मेरी माँ तो माटी की मूरत बनकर ही आपके यहाँ काम करती रही। आज भी उसने कोई गलती नहीं की। परन्तु आप सजा दे रही हैं उसी माटी की मूरत को, जिसने कभी भूलकर भी आपको जवाब नहीं दिया और आपकी सेवा करने में दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा।

रम्भा—रूपा ठीक कह रही है, माँ ! नीला का भला, क्या दोष है, जो आप उसे नौकरी से अलग कर रही हैं ?

सविता—मैं इस समय कोई दलील नहीं सुनना चाहती। रंग में भंग कर दिया है आज इस रूपा ने ! जाने दो इस माँ-बेटी को। मुझे अब इनकी जरूरत नहीं।

नीला—(भरे गले से) आप और अधिक नाराज न हों, मालकिन ! मैं यह चली।

[नीला और रूपा का अपने घर की ओर प्रस्थान।]

पर्दा

अदृश्य दीवार

पात्र-परिचय

रायसाहब मुरलीमनोहर—असिस्टेण्ट कमिश्नर
लताकुमारी—रायसाहब की तरुणी पुत्री
नीलम—लता की सहेली
रमेशचन्द्र—नायब तहसीलदार
राकेश—रमेश का साथी
दीनू—रायसाहब का नौकर

पहला दृश्य

स्थान : जबलपुर महाविद्यालय का उपवन।

समय : दोपहर।

[उपवन के बीचोंबीच एक बेंच पर लता और नीलम बैठी हुई बातचीत कर रही हैं। चारों तरफ देशी-विलायती पौधे चुपचाप प्रहरियों की भाँति खड़े हैं। कुछ लताएँ नेत्ररंजक फूलों के भार से सकुचाती-सी इन सहेलियों का मानो अभिनन्दन कर रही हैं। सामने संगमर्मर के एक स्तम्भ पर अशोक-स्तम्भ की भाँति चार सिंहों के ऊपर एक फव्वारा अपने जलकणों की मन्द फुहार बरसा रहा है, जिसका धीमा किन्तु अनवरत कल-कल छल-छल स्वर उपवन के शान्त वातावरण को मुखरित करने की चेष्टा कर रहा है।]

नीलम—हाँ, अब बताओ लता, क्या कहने के लिए तुम मुझे इस एकान्त में ले आई हो ?

लता—और न बतलाऊँ तो ?

नीलम—तो मैं तुम्हें ऐसा छकाऊँगी कि.....

लता—(बीच में टोकते हुए) नानी याद आ जायगी ! यही न, नीलम ?

नीलम—नानी नहीं, नानी की लड़की की पुत्री के सर्वस्व याद आ जायँगे !

लता—शैतान बनने की कोशिश मत करो, नीलम !

नीलम—श्रीगणेश तो तुमने ही किया है, लता !

लता—मैंने ?

नीलम—और नहीं तो क्या ! तुम्हीं ने क्लास में कहा कि आवश्यक बात करनी है, तनिक उपवन में चलो। लेकिन जब यहाँ आकर

मैंने उस बात को जान लेने की चेष्टा की, तो तुम हो कि इस प्रकार मुझे टालने लगीं।

लता--इतनी अधीरता अच्छी नहीं, नीलम !

नीलम—अधीरता की यह उम्र ही है। इसमें मेरा दोष ही क्या ?

लता—मान गई ! यह तुमने सौ बात की एक बात कह दी—अधीरता की यह उम्र ही है !

नीलम--अच्छा, अब यों ही समय खराब न करो। आखिर वह आवश्यक बात तो सुनूँ क्या है ?

लता--आज मेरे घर एक मेहमान आये हैं, नीलम ! उनके साथ पिताजी सन्ध्या समय धुआँधार देखने जा रहे हैं। कह रहे थे, नीलम को भी साथ ले चलो।

नीलम--चाचाजी कह रहे थे, तो चलना ही पड़ेगा। अच्छा, यह मेहमान कौन हैं, लता ?

लता—यही सुनाने तो तुझे यहाँ एकान्त में ले आई हूँ।

नीलम—तो कोई विशेषता है इन अतिथि में ?

लता—(मुसकराते हुए) थोड़ी नहीं, बहुत विशेषता है इनमें।

नीलम—सुनाओ भी, क्या विशेषता है उनमें ? और तुम इन्हें पहले से जानती भी हो ?

लता—जब हम लोग नागपुर में थे, तब इन रमेश बाबू के परिवार से हम लोगों की बड़ी घनिष्ठता थी।

नीलम—तो तुम्हारी भी घनिष्ठता रही होगी इनसे ?

लता—हाँ, इतनी घनिष्ठता कि सुनकर स्तब्ध रह जाओगी।

नीलम--तब तो इनके दर्शन मुझे करने ही पड़ेंगे।

लता—लेकिन इस प्रकार बात-बात में तुम टोकती जाओगी, तो घनिष्ठता की वह बात मैं कैसे कह सकूँगी, जिसकी भूमिका सुन-कर ही तुम इतनी फूल उठीं।

नीलम—अच्छा, अब मैं नहीं टोकूँगी। सुनाओ वह बात।

लता—एक दिन सन्ध्या के झुटपुटे में मुझे एकान्त में पाकर हजरत ने मेरी हथेली को हठात् अपने ओठों से लगा लिया और......

नीलम—(बीच में टोकते हुए) और तुम न्योछावर हो गईं उन पर ?

लता—न्योछावर नहीं, उसी दिन से मैं इस तरुण से घृणा करने लगी, नीलम ! और हम दोनों के बीच में एक अदृश्य दीवार खड़ी हो गई। शिक्षा और संस्कृति की आड़ में ऐसी उच्छृङ्खलता और अविवेक की मैंने कभी कल्पना नहीं की थी। इसीलिए मैं चुपचाप अपना हाथ छुडाकर अपनी अस्वस्थ माँ के कमरे में चली गई।

नीलम—और रमेश बाबू को तुमने फटकारा नहीं इस पर ?

लता—फटकार देती तो रमेश बाबू का सपना वहीं न टूट जाता, नीलम ! तब हमारे अतिथि बनकर आने का उन्हें आज साहस भी न होता।

नीलम—ओह ! अब समझी। तो तुम रमेश बाबू को इस भ्रम में रखना चाहती हो कि तुम उनसे घृणा नहीं करतीं।

लता—हाँ, नीलम ! ऐसे उच्छृङ्खल तरुण को एक बार फटकार देना यथेष्ट नहीं है; बल्कि समय-समय पर दूसरों की उपस्थिति में मखमली लगाना ही मैं ठीक समझती हूँ।

नीलम—तब यह कहो कि मोर्चेबन्दी करने की शपथ ले चुकी हो और इसीलिए मुझे भी आज धुआँधार ले चलने की बात कह रही हो।

लता—बिलकुल यही बात है, नीलम ! तुम्हे कोई आपत्ति है क्या ?

नीलम—एकदम नहीं। मुझे ऐसी मोर्चेबन्दी में आनन्द आता है। रमेश बाबू को निरुत्तर और लज्जित करने में मुझे आनन्द आयगा, लता।

लता—तब यह तय रहा कि महाविद्यालय से लौटकर तुम सन्ध्या में पाँच बजे तक मेरे घर पहुँच जाओगी ?

नीलम—हाँ, मैं अपने घर में यह सूचना देकर कि तुम्हारे साथ धुआँ-

धार देखने जा रही हूँ, पाँच बजे तक तुम्हारे बँगले पर पहुँच जाऊँगी।

लता—तब चलो, अभी पुस्तकालय में जाकर मुझे एक पुस्तक वापस करनी है।

नीलम—चलो। लेकिन यह तो बताओ लता, तुम इन रमेश बाबू का कुछ आगत-स्वागत भी कर रही हो या नहीं?

लता—आगत-स्वागत में कोई कमी न आने दूँगी। पिताजी के साथ स्टेशन गई थी उन्हें लेने। फिर जिस कमरे में श्रीमान्जी ठहराए गए हैं, उसे सजाने में भी मेरा ही हाथ है। मैं कह चुकी हूँ न कि ऐसे तरुणों को दूसरों के सामने लज्जित करने में मुझे आनन्द आता है।

नीलम—तो एकाध बार अब तक ऐसा कर भी चुकी होगी!

लता—क्यों नहीं! पिताजी ने मुझसे कहा कि आज मैं कालेज न आकर, रमेश बाबू को धुआँधार की सैर करा लाऊँ। स्वयं रमेश बाबू ने इस प्रस्ताव का जोरों से समर्थन किया। परन्तु जानती हो, मैंने क्या कहा?

नीलम—मैं कैसे जान सकती हूँ? तुम सुनाओ न!

लता—तब मैंने कह दिया—'मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती पिताजी, यदि मैं रमेश बाबू को धुआँधार दिखलाने ले जा सकती। परन्तु आजकल कालेज में कुछ ऐसे लैक्चर्स चल रहे हैं, जिन्हें छोड़ देना हानिकर हो सकता है। फिर धुआँधार तो रात में ही अच्छा दीखता है। हम सब साथ ही क्यों न चलें?'

नीलम—तब रह गये होंगे रमेशजी अपना सा मुँह लेकर!

लता—हाँ, मुँह तो एकदम उतर गया था।

नीलम—शायद समझ भी गए होंगे कि तुम उनके साथ कहीं जाना नहीं चाहतीं।

लता—समझें या न समझें, मुझे इससे क्या मतलब? मैं स्वयं ऐसा

साफ-साफ कहकर न तो हलकी-उथली बनना चाहती हूँ, न अपनी कमजोरी प्रकट करना चाहती हूँ।

नीलम—हो तुम चतुर, लता! सन्ध्या समय आज ऐसे अतिथि के साथ कुछ घंटे बिताने का अच्छा अवसर हाथ लगा।

लता—अच्छा, अब मैं पुस्तकालय में जा रही हूँ। पाँच बजे तक मेरे घर पहुँचने की बात भूलना नहीं।

नीलम—नहीं भूलूँगी।

दोनों सहेलियों का प्रस्थान]

... ...

दूसरा दृश्य

[स्थान : रायसाहब मुरलीमनोहर के बँगले का एक कमरा। समय : दिन का तीसरा पहर।

रमेशचन्द्र और राकेश दोनों आमने-सामने एक-एक कोच पर बैठे हुए सम्भाषण कर रहे हैं।

कमरे की दीवारें हलके नीले रंग से पुती हुई हैं। कमरे के दोनों दरवाजों पर हलके गुलाबी रंग के पर्दे लटक रहे हैं, जो हवा के झोंकों से बीच-बीच में हिलते-डुलते दीख पड़ते हैं। कमरे की एक दीवार पर बड़ी-सी गोल घड़ी टँगी हुई है, जिसमें पेण्डुलम नहीं है—केवल डायल है। घड़ी की टिक-टिक आवाज अनवरत जारी है। घड़ी के काँटे अपनी गति से डायल की परिधि की यात्रा करने में संलग्न है।

दीवार पर बड़े आकार-प्रकार के कुछ प्राकृतिक दृश्यों के मनोहर चित्र भी टँगे हुए हैं।]

राकेश—मैं समझता हूँ, तुम्हारी आशंका निर्मूल है, रमेश!

रमेश—लेकिन मैं ऐसा नहीं समझता।

राकेश—यदि तुम्हारा अनुमान सत्य होता कि लता तुमसे असन्तुष्ट है,

तो हम लोगों का स्वागत करने वह स्टेशन क्यों जाती? फिर हम लोगों के ठहराने की समुचित व्यस्था करने और हमारी सुविधाओं का ध्यान रखने की भी वह क्यों कोई चिन्ता करती?

रमेश--हो सकता है, लता मुझे अपने व्यवहार से यह समझने का अवसर न देना चाहती हो कि वह मुझसे असन्तुष्ट है। लेकिन उसकी बातों से मेरी आशंका और भी पुष्ट होती जा रही है।

राकेश--आखिर ऐसी कौन-सी बात हो गई, रमेश?

रमेश--धुआँधार जाने के सम्बन्ध में रायसाहब ने जो प्रस्ताव रक्खा था, उस पर लता ने क्या कहा था, उसे तुमने ध्यानपूर्वक नहीं सुना शायद।

राकेश--सुना था। अरे, यही न लता ने कहा था कि कालेज में आज-कल ऐसे लैक्चर्स चल रहे हैं, जिन्हें छोड़ देना हानिकर हो सकता है।

रमेश--(व्यंग्य के साथ) मानो मैं कभी कालेज में पढ़ा ही नहीं। और, तुम क्या जानते नहीं हो राकेश, कि एकाध दिन के लैक्चर्स छोड़ देने पर ऐसा नुकसान नहीं हो जाता कि उसकी पूर्त्ति ही न की जा सके।

राकेश--प्रत्येक बात के दो पहलू होते हैं, रमेश! हम जिस पहलू को देखना चाहें, उसी के पक्ष में सम्भवतः हमारे विचारों में ज्वार आने लगता है। कभी-कभी ऐसे लैक्चर्स भी होते हैं, जिन्हें छोड़ देने पर उनकी पूर्त्ति असम्भव हो जाती है।

रमेश--मैं तो यही समझता हूँ कि लता ने कुशलतापूर्वक मेरे साथ जाने की बात टाल दी है।

राकेश--यदि यही बात होगी, तो सन्ध्या समय जब हम लोग धुआँधार देखने जायँगे, तब फिर लता कोई बहाना बना देगी।

रमेश--बुद्धू बनने की चेष्टा मत करो, राकेश! भले आदमी, तुम्हारी अक्ल में इतना भी नहीं आता कि सन्ध्या समय हमारे साथ लता

के पिताजी और उसकी एक सहेली भी रहेगी न ! फिर वह क्यों बहाना बनायगी ?

राकेश—तब तुम्हारी आशंका निर्मूल नहीं है, भाई !

रमेश—मैं तो इसीलिए हैरान हूँ, भाई ! यह लता सचमुच लता है—ऐसी लता, जो निकट से गुजरनेवाले पथिक को अपनी सघनता और सुन्दरता पर आकृष्ट तो कर लेती है—उसे अपने आपमें उलझा भी लेती है; परन्तु एक पग भी उसका साथ देने को तैयार नहीं होती।

राकेश—तो पथिक को कोई दूसरी लता भी मिल सकती है।

रमेश—लता नहीं, कोई झाड़ी-झंखाड़ कहो, राकेश—कँटीली झाड़ी।

राकेश—सभी झाड़ियाँ कँटीली नहीं होतीं, रमेश !

रमेश—देखा जायगा, राकेश ! इस समय मेरे सामने दूसरी ही समस्या है।

राकेश—वह क्या ?

रमेश—मेरे विवाह के कई प्रस्ताव मेरे पिताजी के सामने आ चुके हैं। मैं इस लता की ओर तभी से आकृष्ट हूँ, जब यह नागपुर में थी। मैं आज इसी लिए यहाँ आया हूँ कि लता को तनिक निकट से पढ़ लूँ—समझ लूँ, तब जीवन-संगिनी को चुनने का अन्तिम निर्णय करूँ।

राकेश—अब पता चला कि तुम गहरे पानी में हो, रमेश ! खैर, अभी से निराश होने की आवश्यकता नहीं। लता को पढ़ने-समझने का अभी बहुत समय है।

रमेश—मैं समझता हूँ, बहुत समय तो निकल चुका है, अब केवल संध्या का थोड़ा-सा समय और है।

राकेश—वह समय कम नहीं होगा। लता के साथ उसकी सहेली भी रहेगी। मैं समझता हूँ, तभी अधिक खुलकर बातें भी हो सकेंगी।

रमेश—इसी आशा पर तो मैं टिका हूँ, राकेश ! नहीं तो मन में आया था कि आज ही टिकट कटाकर हम घर वापस चल पड़ें।

राकेश—इतना निराश होना ठीक नहीं, रमेश ! अच्छा, यह तो बतलाओ, तुम्हारे विवाह-प्रस्तावों की बात रायसाहब और लता को भी मालूम है या नहीं ?

रमेश—है क्यों नहीं ! सुबह चाय पीते समय स्वयं रायसाहब ने यह प्रसंग छेड़ा था, और मैंने साफ-साफ कह दिया था कि कई प्रस्ताव आ चुके है, केवल मेरे अन्तिम निर्णय की पिताजी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

राकेश—यह बात लता भी सुन चुकी है न ?

रमेश—हाँ, बहुत अच्छी तरह । लेकिन यह बात सुनकर वह चाय की मेज से हटकर दूसरे कमरे में चली गई थी । मैं समझता हूँ, यह भी मेरे प्रति उसके असन्तोष और उपेक्षा का ही प्रमाण था ।

राकेश—अपने विवाह की चर्चा चलने पर कोई भी लड़की वही करती, जो लता ने किया है । इसे असंतोष या उपेक्षा नहीं कह सकते ।

रमेश—तुम चाहे जो कहो, लेकिन मैं ऐसा नहीं समझता । कारण, यह चर्चा लता के विवाह की नहीं, मेरे विवाह की थी ।

राकेश—यह तुम कैसे कह सकते हो, रमेश ? जिस प्रकार तुम अपने मन में लता को पढ़ने-समझने का विचार लेकर यहाँ आये हो, उसी प्रकार सम्भव है, रायसाहब भी लता को यह अवसर देना चाहते हों कि वह भी तुम्हें बखूबी पढ़-समझ सके ।

रमेश—ईश्वर करे, यही हो । लेकिन जाने क्यों, रह-रहकर मुझे लगता है कि यह लता मुझसे असन्तुष्ट है । कदाचित् इसीलिए न तो मेरे साथ अकेली वह धुआँधार जाने को तैयार हुई, न मेरी विवाह-चर्चा में उसने कोई भाग लिया, और न अब तक—दो एक घंटे भी पहले--वह कालेज से लौटी ।

राकेश—तब यह कहो कि कोई अदृश्य दीवार तुम्हारे और लता के बीच में खड़ी है ?

रमेश—अदृश्य दीवार ! हाँ, राकेश, मुझे ऐसा ही भासित हो रहा है ।

राकेश--तो इसका कोई कारण भी होगा, जिसका पता तुम्हारे और लता के अतिरिक्त अन्य किसी को न होगा।

रमेश--(सकपकाते हुए) कारण-वारण तो कोई विशेष नहीं है, राकेश !

राकेश--तब यह असन्तोष और उपेक्षा कैसी ?

रमेश--यही तो मेरे लिए एक पहेली है।

राकेश--मैं यह नहीं मानता। तुम्हारी ओर से कभी-न-कभी अवश्य कोई ऐसी बात हुई होगी, जिसने इस अदृश्य दीवार का निर्माण कर दिया है।

रमेश--एक बात अवश्य हो गई है। जब हम लोग नागपुर में थे, मैं सदा इस लता से मुसकराते हुए मिलता था और कभी-कभी स्नेह सनी दो-एक बातें भी कर लेता था।

राकेश--और लता भी हँसती-मुसकराती थी या नहीं ?

रमेश--ओहो ! अब तो तुम किसी मजिस्ट्रेट की तरह बहस करने लगे, राकेश !

राकेश--जब मैं देख रहा हूँ कि तुम बात-बात में लता के असन्तोष और उपेक्षा की बात कर रहे हो और एक अदृश्य-सी अभेद्य दीवार का अनुभव कर रहे हो, तब इन बातों को जाने-समझे बिना यह निर्णय मैं कैसे कर सकता हूँ कि इस सबके लिए उत्तरदायी कौन है।

रमेश--अच्छा भाई, तब मुझे भी सब कुछ बताना ही पड़ेगा।

राकेश--कोई जबरदस्ती नहीं। न बतलाना चाहो, तो इसी तरह अपने मन के ऊहापोह पर तिरते रहो और परेशान होते रहो।

रमेश--तो सुनो राकेश, एक दिन मैंने इसी तरह हँसते-मुसकराते हुए इस लता की एक हथेली को अपने ओठों से लगा लिया था। बस, उसी क्षण से लता के रुख में जो अन्तर मुझे दीख पड़ा, वह आज तक बना हुआ है।

राकेश--बस, अब मैं सब समझ गया।

रमेश —क्या समझ गए ? इससे अधिक कभी कोई ऐसी बात नहीं हुई जिससे लता को कोई शिकायत रही हो।

राकेश—लेकिन यही शिकायत क्या तुम कम समझते हो ? मैं तो कह सकता हूँ, इसी शिकायत ने उस अदृश्य दीवार का रूप ले रक्खा है, जो आज तुम्हारे लिए अभेद्य हो गई है।

रमेश—तो यह कार्य लता की समझ में इतना गर्हित था कि वह मुझे आज तक क्षमा न कर सकी ?

राकेश—यह भी पूछने की कोई बात है, रमेश ? तुम स्वयं इसका परिणाम देख रहे हो। जिस बात को तुम एकदम साधारण समझते हो, उसी को दूसरा व्यक्ति असाधारण और अनपेक्षित समझता है। पाश्चात्य संस्कृति में किसी कुमारी अथवा महिला की हथेली का किसी अन्य पुरुष द्वारा ओठों से स्पर्श कर लेना अत्यन्त साधारण-सी बात समझी जाती है, बल्कि शिष्टाचार समझा जाता है; परन्तु भारतीय संस्कृति में यही कार्य घोर उच्छृङ्खलता और उद्दण्डता का सूचक है।

रमेश—अच्छा, राकेश ! अब इस प्रसंग को यहीं समाप्त कर दो। संध्या समय इसका अन्तिम परिणाम ज्ञात हो ही जायगा। चलो, हाथ-मुँह धोकर हम लोग शहर का एक चक्कर लगा आवें।

राकेश—हाँ भाई, यदि शहर का सैर-सपाटा न किया, तो अपने मित्रों से क्या कहेंगे कि जबलपुर शहर कैसा है।

रमेश—मित्रों से चाहे जो कहो, चार बजे रायसाहब इजलास से लौट आयँगे। तब तक हमें वापस आ जाना चाहिए, नहीं तो चाय पीने के लिए उन्हें व्यर्थ हमारी राह देखनी पड़ेगी।

राकेश—(कलाई-घड़ी को देखते हुए) अभी सवा घण्टा शेष है। इतने में हम बखूबी शहर का चक्कर लगा आयँगे। अरे, घूमना ही है न ! मर्दुमशुमारी तो करनी नहीं है।

रमेश—ठीक कहते हो। अच्छा, चलो, हाथ-मुँह धोकर चल पड़ें।

[रमेश और राकेश का प्रस्थान]

... ...

तीसरा दृश्य

[स्थान : रायसाहब मुरलीमनोहर के बँगले का बाहरी बैठकखाना। समय : चार बजे सन्ध्या।

एक आरामकुर्सी पर रायसाहब बैठे हुए सिगार पी रहे हैं। सामने ही एक कुर्सी पर लता बैठी है। पिता-पुत्री प्रसन्न मुद्रा में बातचीत कर रहे हैं।

घर का नौकर दीनू बैठकखाने के बाहर दरवाजे पर चुपचाप खड़ा है।]

रायसाहब—ये रमेश और राकेश अब तक नहीं लौटे! चाय पीने का मेरा समय तो हो चुका, बेटी!

लता—आप चाय पीजिए, पिताजी! ये लोग जब लौटेंगे, तब उनके लिए फिर चाय तैयार हो जायगी।

रायसाहब—नहीं, बेटी! घर आये अतिथि का ध्यान हमें रखना ही चाहिए।

लता—अतिथि को भी हमारी सुविधा-असुविधा का ध्यान रखना चाहिए न! यह नहीं कि दिन-भर पड़े रहे आराम से और जब हमारे-आपके लौटने और चाय पीने का समय हुआ, तो चल पड़े मटरगश्ती करने।

रायसाहब—आध घण्टे हम उनकी प्रतीक्षा अवश्य कर लें। और, नीलम नहीं आई तुम्हारे साथ?

लता—वह घर में सूचना देने गई है। आती ही होगी।

रायसाहब—लो, वह आ गये रमेश और राकेश।

लता—(बाहर की तरफ देखकर) चलो, अच्छा हुआ। आपको चाय पीने में देर नहीं हुई।

[रमेश और राकेश के आने की पदचाप]

रायसाहब—कहो भाई, घूम आये शहर ?

रमेश—(एक कुर्सी पर बैठते हुए) हाँ, चाचाजी ! ताँगे पर एक चक्कर लगा आया।

राकेश—(दूसरी कुर्सी पर बैठते हुए) शहर अच्छा है। नागपुर की अपेक्षा साफ-सुथरा और शान्त।

रायसाहब—सन्ध्या समय यह भी अशान्त हो उठता है—मेरा मतलब है कि चहल-पहल खूब बढ़ जाती है।

लता—(प्रसंग बदलते हुए) अब हमें चाय पी लेनी चाहिए, पिताजी !

रायसाहब—हाँ, बेटी ! मँगवा लो चाय।

लता—दीनू ! ओ दीनू !

दीनू—(कमरे में आकर) चाय लाऊँ, बेटी ?

लता—हाँ, जल्दी करो। देर हो रही है।

रमेश—समय का बहुत ध्यान रक्खा, फिर भी कुछ विलंब हो गया हमें लौटने में, चाचाजी !

रायसाहब—नहीं, कोई विशेष विलम्ब नहीं हुआ।

लता—बहुत-सी बातें दुनिया में ऐसी हो जाती हैं, जिनका ध्यान तो हम रखते हैं, परन्तु······

राकेश—परन्तु उस ध्यान के अनुसार उन्हें हम कर नहीं पाते। यही न, लताकुमारीजी ?

लत—हाँ, बिलकुल यही।

रमेश—और आपकी सहेली नहीं आई, लताजी ?

लता—चिन्ता न करें। वह आपकी तरह विलम्ब न करेगी। पाँच बजे तक मेरी सहेली नीलम अवश्य आ पहुँचेगी।

रायसाहब—लता और नीलम सदा साथ रहती हैं, रमेश बाबू !

[चाय का ट्रे लेकर दीनू का प्रवेश]

लता—लीजिए, चाय पीजिए, पिताजी !

रायसाहब—हाँ बेटी, जल्दी करना है हमें। चाय पीकर भोजन भी करना है, जिससे धुआँधार चलने में विलम्ब न हो।

लता—क्यों दीनू, भोजन तैयार है न ?

दीनू—हाँ, बिटिया ! महाराज ने कहा है, भोजन तैयार है। आप जब चाहें, भोजन कर लें।

लता—बस, चाय पीकर हम लोग आध घण्टे के भीतर ही चौके में पहुँच जायँगे। तुम और महाराज सब तैयारी कर रखो। हाँ, पान और सिगार भी लाकर रख जाओ।

दीनू—जी, अभी लाया।

[दीनू का प्रस्थान]

रमेश—वह देखिए लताजी, शायद आपकी सहेली नीलमजी आ पहुँचीं।

लता—(बाहर की तरफ झाँककर) हाँ, नीलम ही है। मैं अभी आई उसे लेकर।

[लता का उस कमरे से बाहर जाना और नीलम के साथ प्रवेश]

लता—यह हैं हमारे अतिथि—रमेश बाबू। नायब तहसीलदार हैं। हमारे परिवार से इनका बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है।

नीलम—(दोनों हाथ जोड़कर) नमस्ते, रमेश बाबू !

रमेश—(कुर्सी से खड़े होकर) नमस्ते, नीलमजी ! बैठिए।

लता—अभी मत बैठो, नीलम ! यह देखो, हमारे दूसरे अतिथि—राकेश बाबू ! रमेश बाबू के अन्तरंग सखा।

राकेश—(कुर्सी से खड़े होकर) नमस्ते, नीलमजी ! बड़ी प्रसन्नता हुई आप-से मिलकर।

नीलम—(दोनों हाथ जोड़कर) नमस्ते ! मुझे भी आप लोगों के दर्शन कर बड़ी प्रसन्नता हुई।

लता—अब बैठो, नीलम !

[सब अपनी-अपनी कुर्सियों पर बैठते हैं]

रायसाहब—लेकिन लता, तुमने नीलम बेटी का परिचय तो इन लोगों को दिया नहीं।

लता—(मुसकराते हुए) यह मैंने आपके लिए छोड़ दिया है, पिताजी !

रायसाहब—अच्छा ! यह नीलम बेटी लता की सहेली है, यह तो तुम सुन ही चुके हो, रमेश बाबू।

रमेश—हाँ, चाचाजी !

रायसाहब—यहाँ के अवकाश-प्राप्त डी० एस० पी० श्री कैलाशचन्द्र शुक्ल की यह कनिष्ठ पुत्री हैं। शुक्लजी मेरे अन्तरंग मित्र हैं।

रमेश—बड़ी प्रसन्नता हुई आपसे मिलकर, नीलमजी !

नीलम—तो इस प्रसन्नता की शीतल बौछारों को बन्द कर अब गरम चाय से कुछ गर्मी का अनुभव किया जाय !

लता—हाँ, अब चाय पीने में विलम्ब करना ठीक नहीं।

[केटली से प्यालों में चाय ढालकर लता उसमें दूध-चीनी मिलाती है और नीलम सबको एक-एक प्याला देती है। दीनू आकर एक छोटी मेज पर सिगार और पान के बीड़े रखकर, कमरे के बाहर जाकर खड़ा हो जाता है।]

रायसाहब—धुआँधार इतना रमणीय स्थान है, रमेश, कि अमरीका से आनेवाले यात्री भी इसे देखने का लोभ-संवरण नहीं कर पाते।

नीलम—आप स्वयं देखेंगे रमेश बाबू, वहाँ की नैसर्गिक सुषमा दर्शकों में सर्वथा नवीन स्फूर्ति का संचार कर देती है।

लता—लेकिन मैं तुम्हारी इस बात से सहमत नहीं, नीलम !

नीलम—क्यों ?

लता—इसलिए कि यह सब देखनेवाले की मनोदशा पर निर्भर करता है।

नीलम—तो क्या रमेश बाबू की मनोदशा कुछ...?

लता—मालूम ऐसा ही पड़ता है। तभी चुपचाप सुन रहे हैं यह सब।

रमेश--(अप्रतिभ होकर) मैं सोच रहा हूँ, जिस दृश्य को अपनी आँखों देखने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है, उसके संबंध में...

लता--(बीच में ही टोकते हुए) कोई प्रशंसा सुनना व्यर्थ है !

रमेश--नहीं, मैं यह कह रहा था कि उसकी प्रशंसा ध्यानस्थ होकर सुन लेना ही ठीक होगा।

नीलम--तब सन्तोष है हमें।

रायसाहब--अच्छा, भाई; अब पान-सिगार समाप्त कर भोजन करने चलना चाहिए। लता बेटी, तुम जाकर भोजनों की तैयारी कराओ। हम लोग पन्द्रह मिनट में आ रहे हैं।

लता--नीलम के साथ मैं भीतर जा रही हूँ। आप लोग जल्दी करें। ड्राइवर भी आ चुका है। कार तैयार है।

रायसाहब--हम लोग अभी आ रहे हैं, बेटी !

[नीलम के साथ लता का प्रस्थान]

... ...

चौथा दृश्य

[स्थान : भेड़ाघाट में नर्मदा का पंचवटी-घाट।

समय : रात्रि का प्रथम पहर।

एक सघन वृक्ष के नीचे पहुँचकर कार खड़ी हो जाती है। नीलम, लता, रायसाहब, रमेश, राकेश और ड्राइवर—सबके सब मोटर से उतरकर राजपथ पर खड़े हो जाते हैं।

निरभ्र आकाश में शुक्ल पक्ष की द्वादशी का चाँद चमक रहा है। रुपहली चाँदनी में सारी प्रकृति सद्यःस्नाता-सी दीख रही है। दूर से नर्मदा की चल-लहरों की कल-कल ध्वनि धीमी-धीमी सुनाई पड़ रही है।]

लता--लीजिए, रमेश बाबू, आप भेड़ाघाट में आ पहुँचे।

नीलम--इस समय जहाँ आप खड़े हैं, यह नर्मदा का पंचवटी-घाट है।

लता—इसी घाट से हम लोग नाव पर बन्दरकूदनी देखने चलेंगे।

रायसाहब—अच्छा, बेटी; मैं घाट पर जाकर नाव की व्यवस्था करता हूँ। तुम लोग तब तक यहीं ठहरो।

लता—मैं भी चलूँ आपके साथ, पिताजी ?

रायसाहब—नहीं, मैं ड्राइवर के साथ जाता हूँ।

[रायसाहब का ड्राइवर के साथ प्रस्थान]

रमेश—यह देख मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई लता, कि तुम कार भी बड़ी कुशलता के साथ ड्राइव कर लेती हो।

लता—आधुनिकतम कुमारी को जिन कुछ बातों में दक्ष होना चाहिए, उनमें से कार चलाना भी एक है न, रमेश बाबू!

नीलम—नहीं तो विवाह के बाजार में उसका उचित मूल्य नहीं आँका जाता, रमेश बाबू!

रमेश—मैंने तो सहज भाव से ही यह कह दिया था, लेकिन आप दोनों ने इसका दूसरा ही मतलब समझ लिया।

नीलम—लता बहिन ने ठीक ही कहा है, रमेश बाबू! आज की कुमारी से यही आशा की जाती है कि वह खूब पढ़ी-लिखी हो, संगीत में निपुण हो, टेनिस आदि भी खेलती हो और कार ड्राइव करती हो।

लता—और एक बात तुम भूल गईं, नीलम!

नीलम—वह क्या ?

लता—यह कि आज की कुमारी किसी सम्पन्न घराने की हो और अपने रूप-यौवन के साथ-साथ प्रचुर धन-दौलत भी लेकर ससुराल में प्रवेश करे।

राकेश—युग के साथ-साथ जब आज का युवक पहले से अधिक शिक्षित होने लगा, सभ्यता के साँचे में अपने-आपको ढालने लगा और सुसंस्कृत विचारों को लेकर समुन्नत होने लगा, तब उसकी यह आकांक्षा स्वाभाविक ही कही जायगी न, नीलमजी ?

नीलम—लेकिन विवाह का जहाँ तक सम्बन्ध है, इन सारी बातों का पता दो-एक दिन में लगा लेना सम्भव नहीं, राकेश बाबू ! जिस प्रकार लड़का स्वयं लड़की को देखकर अपना निर्णय देता है, उसी प्रकार लड़की का निर्णय भी अभिभावकों को लेना चाहिए। लड़की से भी यह पूछना चाहिए कि जिस लड़के ने उसके रूप-सौन्दर्य का मोल-तोल किया है, उसका भी रूप-रङ्ग और आचरण लड़की को पसन्द है या नहीं।

लता—और सुनिए, राकेश बाबू ! आपने अभी-अभी जो यह कहा है कि आज का युवक पहले से अधिक शिक्षित और सुसंस्कृत होने लगा है, इसे मैं कोरी डींग समझती हूँ। आज के अनेक युवक इस शिक्षा और संस्कृति के आवरण में जो उच्छृङ्खलता और अविवेक छिपाए रहते हैं, उसके यथार्थ रूप और उनके चरित्र का पता लगाने के लिए बहुत समय खर्च करने की आवश्यकता है।

[यह सुन रमेश के चेहरे का रङ्ग उड़ जाता है। वह वहाँ से हट जाने के लिए छटपटाने लगता है। तभी रायसाहब आ जाते हैं।]

रायसाहब—चलो भाई, मैं नाव की व्यवस्था कर चुका हूँ।

रमेश—(आगे बढ़कर) चलिए, चाचाजी !

[सबका प्रस्थान और नाव पर बैठकर बन्दरकूदनी की ओर जाना।]

रायसाहब—देखिए, रमेश बाबू ! नर्मदा की पावन जलराशि पर, आकाश में चमकते चन्द्र का प्रतिबिम्ब कैसा मोहक लग रहा है।

रमेश—वास्तव में यह दृश्य मनोरम है, चाचाजी !

नीलम—और वह देखिए, रमेश बाबू, नर्मदा के दोनों तटों पर विशालकाय प्रहरी के रूप में खड़ी गगन-विचुम्बी-सी संगमर्मर की चट्टानें चाँदनी के स्निग्ध आलोक में दूध-जैसी चमक रही हैं।

लता—और इन चमकती चट्टानों का प्रतिबिम्ब नर्मदा की चल-लहरों पर झिलमिलाता हुआ किसी दर्पण की तरह भासित हो रहा है।

रायसाहब—पसन्द आया यह दृश्य, रमेश बाबू ?

रमेश--यह अनोखी छटा शायद ही कभी भूल सकूँ, चाचाजी !

लता--एक बात है, रमेश बाबू ! मानव-स्वभाव कुछ ऐसा होता है कि अनोखी छटा का मोहक लावण्य भी भली-भाँति हृदयङ्गम नहीं कर पाता और इसी लिए उसे भुला भी बैठता है।

रमेश--तो फिर मानव को याद क्या रहता है, लता ?

लता--जीवन-पथ पर अनायास हो जानेवाली कोई ऐसी दुर्घटना, जिससे उसका तन-मन पीड़ित हो उठे और उसके प्राणों का तार-तार झनझनाकर टूटते-टूटते बच रहे !

रमेश--(सकपकाते हुए) शायद यही होता हो, लता !

लता--शायद नहीं, एकदम यही।

रायसाहब--छोड़ो यह तर्क-वितर्क रमेश ! देखो, अब हमारी नाव उसी स्थान पर आ पहुँची है, जिसे बन्दरकूदनी कहते हैं।

नीलम--(एक हाथ से संकेत करते हुए) दोनों तटों की गगन-विचुम्बी चट्टानों को देखिए, रमेश बाबू ! ऊपरी भाग कितना पास-पास झुका हुआ है। कहते हैं, इस स्थान पर एक तट की चट्टानों से कूदकर कभी एक बन्दर दूसरे तट की चट्टानों पर चला गया था। बस, तभी से इसका नाम 'बन्दरकूदनी' पड़ गया।

रमेश--सचमुच यह दृश्य अनोखा है।

रायसाहब--अच्छा, अब हम वापस चलें। धुआँधार भी तो देखने चलना है अभी।

[नर्मदा के प्रवाह के साथ-साथ नाव का वापस होना]

... ...

पाँचवाँ दृश्य

[स्थान : नर्मदा का तट। समय : रात्रि का दूसरा प्रहर।
नर्मदा के जलप्रपात का गहरा शब्द रात्रि की निस्तब्धता को अनवरत भंग कर रहा है।]

रायसाहब—यह रहा धुआँधार—नर्मदा का जलप्रपात।

नीलम—देखिए, रमेश बाबू! कितना सुन्दर है यह दृश्य! लगता है, नर्मदा अपने हृदय की समस्त प्रसन्नता हम दर्शकों को लुटा रही है। छोटे-छोटे जल-कण हवा में उड़ते हुए कैसे मनोरम दीख रहे हैं!

रमेश—और, मुझे लगता है, नर्मदा अपने हृदय की वेदना से परितप्त होकर इस प्रपात के रूप में अपने अश्रुकण बिखेर रही है।

लता—यह सब अपनी-अपनी मनोदशा पर निर्भर करता है, रमेशजी!

रायसाहब—तो क्या रमेश बाबू, तुम्हें अपने घर की याद आ गई?

रमेश—नहीं, चाचाजी! ऐसी तो कोई बात नहीं।

रायसाहब—तब ऐसे मनोरम प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर यह करुण उद्गार क्यों फूट पड़े?

नीलम—होगा कोई कारण, चाचाजी! अनेक बातें ऐसी होती हैं, जो अदृश्य दीवार बनकर हमारा मार्ग रोक बैठती हैं और हमारी आशाओं के सुनहरे तारों को नष्ट कर देती हैं।

राकेश—और इस अभेद्य दीवार को, अदृश्य रहने के कारण हम प्रयत्न करने पर भी भेद नहीं पाते।

रमेश—आप सबका अनुमान बहुत कुछ ठीक है। चलिए चाचाजी, अब हम लौट चलें। रात काफी भीग चुकी है।

रायसाहब—जैसी तुम्हारी इच्छा। चलो, लौट चलें।

[सबका पुनः पंचवटी की ओर चल पड़ना]

नीलम—ऐसी क्या बात है, रमेश बाबू! हमें न बतायँगे आप?

रमेश—बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं, नीलमजी, जो सबको नहीं बतलाई जा सकतीं। फिर, आप स्वयं कह चुकी हैं, बहुत-सी बातें अदृश्य दीवार बन जाती हैं।

नीलम—तब जाने दीजिए। आपकी अदृश्य और अभेद्य दीवार आपको ही मुबारक हो!

रायसाहब—अच्छा, रमेश बाबू ! आज का कार्यक्रम तो अब घर पहुँचकर समाप्त समझना चाहिए। कल का कार्यक्रम क्या रहेगा ?

रमेश—जबलपुर का मेरा सारा कार्यक्रम अब समाप्त समझिए। कल सुबह मुझे वापस जाना है, चाचाजी !

रायसाहब—अरे, इतनी जल्दी ?

लता—क्या करें बेचारे ? सरकारी नौकर जो हैं ! समय न होगा।

रायसाहब—लेकिन सुबह छः बजे गाड़ी चली जाती है। तैयारी करने और चाय पीने में दिक्कत न होगी ?

लता—आप चिन्ता न करें, मैं सब तैयारी करा दूँगी और चाय पिलाकर ही रमेशजी और राकेशजी को स्टेशन भेज आऊँगी।

रमेश—मैं क्या तुम्हें कष्ट दिये बिना स्टेशन न जा सकूँगा, लता ?

नीलम—नहीं, रमेश बाबू !

रमेश—सो क्यों ?

नीलम—कहीं कोई अदृश्य दीवार सामने आ खड़ी हुई, तो आप उसी से टकरा जायँगे और तब घर कैसे जा सकेंगे ?

रायसाहब—(हँसते हुए) हाँ, नीलम ! यह तुमने ठीक कहा। शायद वैसी ही कोई अदृश्य दीवार, जैसी अभी-अभी रमेश के सामने आ चुकी है।

नीलम—हाँ, चाचाजी !

रायसाहब—अच्छा, वह रही हमारी कार। चलो, अब हम उसमें चलकर बैठें। जाने न जाने की बात घर पहुँचकर देखी जायगी।

[कार पर बैठकर सबका प्रस्थान]

पर्दा

*

शंखनाद

पात्र-परिचय

दिनेश—मजदूरों का नेता
सारन्धा—दिनेश की पत्नी
करुणा—दिनेश की पुत्री
सुरेश—दिनेश का मित्र
शीला—सुरेश की पत्नी

पहला दृश्य

स्थान : दिनेश का मकान। समय : सन्ध्या।

[दिनेश की पत्नी सारन्धा बीमार पुत्री करुणा के सिरहाने बैठी उसका माथा दाब रही है। निकट ही एक चटाई पर सारन्धा की एक पड़ोसिन शीलादेवी बैठी बातचीत कर रही है।]

शीला—इस करुणा की बीमारी लंबी ही होती जा रही है, बहिन! पता नहीं, भगवान् इसे कितने दिनों तक यह कष्ट दिये रहेंगे।

सारन्धा—जब करुणा के पिताजी ही इसकी चिन्ता नहीं करते, तब भगवान् को दोष देना व्यर्थ है, बहिन!

करुणा—(कराहते हुए रुक-रुककर) पिताजी को भी दोष देना व्यर्थ है, माँ! यह कहो कि आजकल की परिस्थितियाँ ही ऐसी हैं कि मनुष्य अपनी सन्तान के लिए भी कुछ नहीं कर पाता। यह समाज-व्यवस्था जब तक आमूल बदल नहीं दी जाती, तब तक मनुष्य का कल्याण नहीं।

सारन्धा—सुना बहिन! मजदूरों के नेता की पुत्री के विचार भी अपने पिता के ही विचारों की छाया हैं।

शीला—करुणा ठीक कह रही है, बहिन! करुणा के पिताजी भी यही कहते हैं कि मजदूरों का देवदूत कार्ल मार्क्स वर्त्तमान समाज में सुधार करने का नहीं, बल्कि एक नवीन समाज की स्थापना करने का समर्थक था।

सारन्धा—लेकिन मैं कहती हूँ, कार्ल मार्क्स की बातें करने और उसके सिद्धान्तों पर चलने के प्रयत्न से करुणा के बाबूजी कार्ल मार्क्स नहीं बन जायँगे। हाँ, यह अवश्य हो रहा है कि हम परिवारवाले उनकी इस सनक में बरबाद हो रहे हैं।

शीला—बिना तपाए सोने की वास्तविक चमक देखना सम्भव नहीं, बहिन! करुणा के पिताजी की प्रत्येक मजदूर पूजा करता है। उनके संकेत पर मजदूर-वर्ग प्राण चढ़ाने के लिए तैयार रहता है। यह सौभाग्य सबको नहीं मिलता, बहिन!

सारन्धा—लेकिन इस सौभाग्य का कितना महँगा मूल्य चुकाना पड़ रहा है, यह भी तुमसे छिपा नहीं है।

शीला—मैं क्या यह सब जानती नहीं, बहिन! लेकिन अधीर होने से काम नहीं चलता। कभी-न-कभी आपत्तियों के मेघ भी फटेंगे और सुनहरी सूर्य्य-रश्मियाँ तुम्हारा अभिनन्दन करेंगी।

करुणा—(धीमे स्वर में) यही बात मैं कहती हूँ, चाचीजी! लेकिन माँ हैं कि मेरी बीमारी को लेकर अपना सारा धीरज खो बैठी हैं।

शीला—तुम मत बोलो, बेटी! अधिक बातचीत करने से गर्मी बढ़ जाने का डर है।

सारन्धा—मैं तो रात-दिन कष्ट, अभाव और परेशानी के बीच पिसते-पिसते सचमुच अधीर हो उठी हूँ। मेरा कहना यही है कि जब मजदूरों का संगठन करने, उनका मार्ग दर्शाने और उनके हित की बात करने से अपनी हानि के सिवा कोई लाभ नहीं, तब इस मार्ग से दूर ही क्यों न रहा जाए?

शीला—यह सम्भव नहीं, बहिन! सबके जीवन का लक्ष्य अलग-अलग होता है। उस लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए मनुष्य अपना सर्वस्व होम देता है। यही बात करुणा के पिताजी की है। वे इस मार्ग से हट नहीं सकते।

करुणा—और उनका अडिग रहना ही अच्छा है, चाची!

शीला—हाँ, बेटी! इतना सब झोंक देने के बाद मार्ग से हट जाना कभी ठीक न होगा।

सारन्धा—मुझे तो ऐसा लगता है कि उनके लक्ष्य तक पहुँचते-पहुँचते, हम परिवारवाले ही सम्भवतः उनके मार्ग से हट जायँगे।

शीला—फिर वही अधीरता की बात करने लगीं, बहिन ! मैं जानती हूँ, करुणा के बाबूजी जितना कमाते हैं, उससे तुम्हारे परिवार का दैनिक खर्च ही कठिनाई से पूरा होता होगा, फिर पुत्री की बीमारी में उचित उपचार करने की, अथवा परिवारवालों के कपड़े-लत्ते बनवाने या घर का अन्य कोई खर्च करने की गुञ्जाइश ही कहाँ रह सकती है ?

करुणा—लेकिन इसमें पिताजी का क्या दोष, चाची ? जी-तोड़ परिश्रम करने पर भी यदि उन्हें इतना वेतन नहीं दिया जाता कि परिवार का भरण-पोषण भली-भाँति कर सकें, तो यह समाज-व्यवस्था का ही दोष हुआ न ? और इसी समाज-व्यवस्था को बदल देने के मार्ग पर जब वह चल रहे हैं, तो इसे उनका दोष कैसे कहा जा सकता है ?

सारन्धा—चुप भी रह, बेटी ! मैं कह चुकी हूँ न, तेरे विचार तेरे पिता-जी के विचारों की छाया ही हैं।

शीला—करुणा ठीक तो कह रही है, बहिन ! काम करनेवालों को जब उनकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए पर्याप्त पारिश्रमिक नहीं मिलेगा, तो यह समाज-व्यवस्था कितने दिन टिक सकेगी ? कभी-न-कभी विद्रोह का विस्फोट होकर ही रहेगा और काम करनेवालों की—मजदूरों की—विजय भी होगी।

सारन्धा—लेकिन इस विजय का सूर्य जिस क्षितिज पर उदय होगा, वह बहुत दूर है, बहिन ! शायद इतनी दूर कि उस तक पहुँचने के पूर्व प्रयत्न करनेवालों का अस्तित्व ही न बच रहेगा।

शीला—यह तुम्हारी निराशा है, बहिन ! तुम भूली न होगी कि देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए महात्मा गांधी ने जब बिगुल बजाया था—शंखनाद किया था—उस समय भी अनेक लोगों का यही ख्याल था। लेकिन गांधीजी के जीवन में ही हमारा देश स्वतंत्र

हो गया और आज हम गणतन्त्र भारत में जीवन की साँसें ले रहे हैं।

सारन्धा—महात्मा गांधी के आन्दोलन के पीछे सारे देश की शक्ति थी; परन्तु करुणा के बाबूजी के साथ केवल स्थानीय मजदूरों की शक्ति है।

शीला—महात्मा गांधी की भाँति करुणा के पिताजी का कार्यक्षेत्र भी देशव्यापी नहीं है। स्थानीय मजदूरों की विजय-प्राप्ति के पश्चात् ही उनका कार्यक्षेत्र विस्तृत होगा।

सारन्धा—भगवान् जाने, उनका यह स्वप्न कब पूरा होगा, बहिन!

शीला—बहुत जल्द होगा, बहिन! मैंने सुना है, मिल-मालिक अभी तो सख्ती से काम लेंगे, परन्तु अन्त में उन्हें झुकना पड़ेगा।

सारन्धा—मैं भी इस सख्ती का समाचार सुन चुकी हूँ। सुनते हैं, करुणा के पिताजी से असन्तुष्ट हैं मिल-मालिक।

शीला—असन्तुष्ट होकर भी मिल-मालिक उनका कुछ बिगाड़ न सकेंगे।

सारन्धा—क्यों न बिगाड़ सकेंगे, बहिन! नौकरी से तो हटा ही सकेंगे। और नौकरी करते हुए जब पुत्री की दवा कराने के भी लाले पड़ रहे हैं, तब नौकरी न रह जाने पर क्या होगा, इसकी कल्पना करते ही मेरे प्राण काँप उठते हैं।

शीला—करुणा के बाबूजी की नौकरी जिस दिन मिल-मालिक छुड़ा देंगे, उस दिन मिल का फाटक ही बन्द हो जायगा। जिन मजदूरों के लिए करुणा के पिताजी अपना सर्वस्व झोंक रहे हैं, वे मजदूर उनकी नौकरी पर कोई आँच सपने में भी न आने देंगे।

सारन्धा—देखें, क्या होता है, बहिन! अच्छा, मैं चाय की तैयारी करूँ। उनके आने का समय हो चुका है। तुम भी चाय पीकर ही जाना। मैं पाँच मिनट में अभी आती हूँ रसोईघर से।

शीला—मैं तो चाय पीती नहीं शाम को। अब मैं जाती हूँ। (कुछ रुक-

कर) हाँ, जो बात मैं कहने आई थी, वह तो भूल ही गई। करुणा के चाचाजी कह रहे थे, डाक्टरी दवा नहीं कराई जा सकती, तो वह होमियोपैथिक दवा स्वयं दे सकते हैं इसे देखकर। कहो तो कल सुबह भेज दूं उन्हें?

सारन्धा—नेकी और पूछ-पूछ? अवश्य भेज दो, बहिन!

शीला—अच्छा, तो अब चलती हूँ। नमस्ते!

सारन्धा—नमस्ते, बहिन!

[शीला का प्रस्थान]

... ...

दूसरा दृश्य

[स्थान: दिनेश के घर का रसोईघर। समय: रात्रि का दूसरा पहर।

दिनेश अभी-अभी बाहर से आया है। चौके में एक पीढ़े पर बैठा भोजन कर रहा है। निकट ही उसकी पत्नी सारन्धा बैठी है, जो भोजन परोस रही है और बातचीत कर रही है।]

सारन्धा—मैं कहती हूँ, तुम्हें परिवारवालों की कोई चिन्ता नहीं, तो कम-से-कम अपने ही शरीर की चिन्ता कर लिया करो।

दिनेश—(मुँह तक कौर ले जाकर रुकते हुए और सारन्धा की ओर साश्चर्य देखते हुए) यह तुम क्यों कहा करती हो सारन्धा कि परिवारवालों की मुझे कोई चिन्ता नहीं?

सारन्धा—इसलिए कि रात-दिन यही देख रही हूँ। हर घड़ी तुम्हें मजदूरों का ही भूत चढ़ा रहता है। यही देखो न, घर में लड़की बीमार पड़ी है। उसकी दवा-दारू और सेवा-शुश्रूषा की तुम्हें रत्ती भर चिंता नहीं; परन्तु आधी रात तक कहीं-न-कहीं मजदूरों की

मजदूरी बढ़ाने, उन्हें बोनस दिलाने, उनका संगठन करने, गरज यह कि मजदूरों के लिए यह करने, वह करने आदि में अवश्य सिर खपाते रहोगे।

दिनेश—बीमार लड़की की सेवा-शुश्रूषा करने के लिए जब तुम हो, तब मेरी जरूरत ही क्या? और उसकी दवा-दारू के लिए मेरे पास पैसे ही कहाँ? इस दशा में इस शरीर और दिमाग का जो उपयोग कर सकता हूँ, उससे क्यों चूकूँ?

सारन्धा—तो यही कहो कि मजदूरों के पीछे परिवारवालों की बलि चढ़ा देने का संकल्प कर चुके हो?

दिनेश—मनुष्य के संकल्प-विकल्प से कुछ नहीं होता, सारन्धा! यह सब परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

सारन्धा—तो इन परिस्थितियों की तुम्हारे पास कोई दवा नहीं है?

दिनेश—उसी के लिए तो इतना मरता-खपता रहता हूँ। कार्ल मार्क्स वर्त्तमान समाज-व्यवस्था में सुधार नहीं चाहता था, वह तो इसे आमूल बदल देना चाहता था।

सारन्धा—तो तुम भी कार्ल मार्क्स बन रहे हो अब?

दिनेश—कार्ल मार्क्स बनना साधारण काम समझती हो तुम? लेकिन दुर्भाग्य का जहाँ तक सम्बन्ध है, अकिंचनता का जहाँ तक प्रश्न है, मेरी परिस्थितियाँ कार्ल मार्क्स की परिस्थितियों से कम भयंकर नहीं हैं। मजदूरों के उस देवदूत को भी खाने के लाले पड़ चुके थे। रहने के लिए मकान का किराया भी नहीं दे सकता था बेचारा। और परिवारवालों की दवा-दारू तो वह एकदम नहीं कर सकता था।

सारन्धा—शायद इसीलिए तुम करुणा की दवा न कर सकने के लिए चिंतित नहीं? मैं कहती हूँ, ऐसी नेतागीरी चूल्हे में झोंक दो और

साधारण दुनियावालों की तरह परिवारवालों की भी कुछ परवाह करना सीखो।

दिनेश—तुम नहीं जानतीं सारन्धा, परिवारवालों की चिन्ता सच्चे जन-सेवकों को मार्ग-भ्रष्ट नहीं कर सकती। कार्ल मार्क्स को भी अपने परिवार के पालन-पोषण के लाले पड़ चुके थे। उसके मित्र एंजिल्स से उसे जो सहायता मिल जाती थी, उससे किसी तरह उसका परिवार उदर-पोषण कर पाता था। उसके बच्चों की दशा शोचनीय हो उठी थी। इन्हीं अभावों के बीच उसका छोटा पुत्र, छोटी पुत्री और नौ वर्ष का पला-पलाया एक पुत्र भी इस दुनिया से उठ गया था। परन्तु कार्ल मार्क्स अपने पथ से विचलित नहीं हुआ। तभी वह मजदूरों का देवदूत बन सका।

सारन्धा—अब समझी!

दिनेश—(बीच में ही टोकते हुए) क्या समझीं? (और पानी पीकर थाली पर से उठ बैठता है।)

सारन्धा—यही कि तुम भी मजदूरों के देवदूत बनने की चेष्टा में हो और परिवार की बलि चढ़ा रहे हो। (कानों पर अँगुलियाँ रखते हुए) बात-बात में कार्ल मार्क्स सुनते-सुनते मैं तो थक चुकी हूँ।

दिनेश—तुम एकदम गलत समझ रही हो, सारन्धा! मैं क्या मजदूरों का देवदूत बनूँगा? हाँ, मजदूरों में जीवन, जागृति और मानवता का शंखनाद अवश्य कर रहा हूँ। और इस शंखनाद का भी जो महँगा मूल्य चुकाना पड़ रहा है, वह तुमसे छिपा नहीं है। लेकिन पत्नी का कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि पति के मार्ग में वह रोड़ा न बनकर उसकी सहायक रहे। कार्ल मार्क्स की पत्नी जेनी ने सदा उसका साथ दिया। वह न तो कभी स्वयं विचलित हुई, न मार्क्स को विचलित होने दिया।

सारन्धा—मैं भी तुम्हें विचलित नहीं करना चाहती और चुपचुप सारे कष्ट और अभाव सहती जा रही हूँ। परन्तु करुणा की जब हम

डाक्टरी दवा भी नहीं करा सकते और उसकी दशा दिनोंदिन गिरती जा रही है, तब मुझे यह सब कहना पड़ा है। पत्नी के कर्त्तव्य की चट्टान से माँ की ममता को दबा देने में निश्चय ही मैं असमर्थ हूँ।

दिनेश—तुम्हारी यही अभिव्यक्ति मुझे विचलित कर देती है, सारन्धा ! क्या तुम समझती हो, मेरे हृदय में अपनी संतान के लिए स्नेह नहीं, ममता नहीं, वात्सल्य नहीं ? लेकिन परिस्थितियों की कठोर चट्टानों से टकरा-टकराकर मेरी सारी भावनाएँ जब चूर-चूर हो चुकीं, तब मैं क्या करूँ, किससे कहूँ कि मेरे परिवार की कोई सहायता करे ?

सारन्धा—बस करो ! मैं अब कभी यह भूल न करूँगी। तुम्हें कभी इस प्रकार न छेड़ूँगी। आज शीला बहिन आई थीं। कह गई हैं, कल सुबह सुरेशजी को वह भेजेंगी। करुणा को देखकर वह होमियो-पैथिक दवा देंगे। उनकी दवा से जहाँ अनेकों गरीब भले-चंगे हो जाते हैं, भगवान् करेगा तो हमारी करुणा भी ठीक हो जायगी।

दिनेश—सुरेश भला आदमी है, सारन्धा ! उसकी भलाई का भगवान् ने उसे पुरस्कार भी दिया है।

सारन्धा—पुरस्कार ?

दिनेश—हाँ, पुरस्कार। अभी-अभी उसे एक लाटरी में पाँच हजार रुपये मिले हैं।

सारन्धा—भाग्य की बात है। अच्छा है, भगवान् सबका भला करे।

दिनेश—करुणा की आँख लग गई है शायद।

सारन्धा—आधी रात बीत रही है, अब तक क्या जागती ही रहेगी ? सोने के पहले कई बार तुम्हारी याद करती रही।

दिनेश—क्या करूँ, सारन्धा ! आज मजदूरों की एक आवश्यक बैठक थी। मेरे ही हित में यह बैठक थी।

सारन्धा—तुम्हारे हित में ?

दिनेश—हाँ ! सुनते हैं, मिल-मालिक मेरी गतिविधि से चिढ़कर मुझे नौकरी से हटा देने का निश्चय कर चुके हैं। परन्तु मजदूर-संघ ने आज यह निश्चय किया है कि ऐसा हुआ, तो जबरदस्त हड़ताल कर दी जायगी।

सारन्धा—यही होना चाहिए। मजदूरों के लिए अपना सर्वस्व होम देनेवाले के प्रति कम-से-कम इतनी सहानुभूति तो होनी ही चाहिए।

दिनेश—मजदूरों के हृदय निष्कपट होते हैं, सारन्धा ! मानवता का जहाँ तक सम्बन्ध है, इनमें कूट-कूटकर भरी रहती है। ये कभी अपने हितचिंतक को धोखा नहीं दे सकते।

सारन्धा—अच्छा, चलो, अब आराम करो।

दिनेश—हाँ, अब सोना चाहिए।

[दोनों का रसोईघर से प्रस्थान]

... ...

तीसरा दृश्य

[स्थान : दिनेश के घर का बैठकखाना। समय : प्रातःकाल। बाँस की एक कुर्सी पर बैठा दिनेश किसी विचारधारा में उलझा हुआ है। बैठकखाने के एक कोने में एक मेज रक्खी हुई है, जिस पर कुछ पुस्तकें और समाचार-पत्र अस्त-व्यस्त-से बिखरे पड़े हैं। मेज के ऊपर दीवार पर एक रंग-बिरंगा कलैण्डर टँगा हुआ है। दीवारों पर कुछ चित्र भी टँगे हुए हैं, जिनमें कार्ल मार्क्स और महात्मा गांधी के चित्र उल्लेखनीय हैं। बैठकखाने के दूसरे कोने में फर्श पर दो जोड़ी जूते और एक जोड़ी चप्पलें रखी हुई हैं। दिनेश के मित्र सुरेश का दबे पाँव प्रवेश।]

सुरेश—(दबे पैरों दिनेश के सामने पहुँचकर) क्या सोच-विचार कर रहे हो, दिनेश ?

दिनेश—अपनी भाग्य-रेखा को पढ़ने की चेष्टा कर रहा हूँ। बैठो।

सुरेश—तो यह कहो कि ज्योतिषी भी हो तुम ?

दिनेश—तुम गलत समझ गए, सुरेश ! यदि ज्योतिषी होता, तो भाग्य-रेखा को पढ़ने की चेष्टा न करनी पड़ती। अरे, तब तो भाग्यरेखा का रहस्य समझकर ही संसार के रंगमंच पर अपना अभिनय करता और जिस निराशा, असफलता और बेचैनी की चट्टानों से टकरा-टकराकर चूर-चूर हुआ जाता हूँ, उससे बचा भी रहता।

सुरेश—तो क्या इधर फिर किसी चट्टान से टकरा गये तुम ?

दिनेश—अभी टकराया तो नहीं हूँ, लेकिन ऐसा प्रतीत हो रहा है कि...

सुरेश—(बीच में ही टोकते और एक कुर्सी पर बैठते हुए) कि किसी चट्टान से अब टकराना ही चाहते हो ?

दिनेश—हाँ, यही बात है।

सुरेश—मजदूरों का हित-चिंतन करना सहज-सरल नहीं, बल्कि काँटों के पथ पर चलना है, दिनेश ! तुमने अपने कमरे की दीवारों पर जो चित्र टाँग रक्खे हैं, इनसे ऐसी निराशा के क्षणों में कुछ प्रेरणा लिया करो। कार्ल मार्क्स और महात्मा गांधी के जीवन की कठिनाइयों को मत भूला करो।

दिनेश—किसी महात्मा के जीवन की कठिनाइयों का स्मरण-मात्र हमारी व्यावहारिक कठिनाइयों को हल नहीं कर सकता, सुरेश ! जीवन की परिस्थितियाँ सदा भिन्न-भिन्न होती हैं। मैं क्या जानता नहीं कि कार्ल मार्क्स ने अपने स्वास्थ्य, सम्पत्ति और परिवार—सभी को झोंक दिया था इन मजदूरों के हित-चिंतन का मार्ग अपना कर। लन्दन में जब वह अपना निर्वासित जीवन बिता रहा था, तब मकान-मालकिन ने केवल पाँच पौंड न दे सकने पर, मार्क्स को न केवल सपरिवार उस घर से निकाल दिया था; बल्कि

उसके सारे मकान पर कब्जा कर लिया था—बच्चों के पालने और खिलौनों पर भी, और उसके बच्चे वहीं खड़े-खड़े टुकर-टुकर यह सब देखते हुए आँसू बहा रहे थे। लेकिन.....

सुरेश—लेकिन क्या, दिनेश ? मैं तुम्हें इस प्रकार विचलित न होने दूँगा। तुम क्या कहना चाहते हो, सुनूँ भी ?

दिनेश—यह कि उसे एंजिल्स-जैसा मित्र मिल गया था। एंजिल्स ने उसके परिवार को जीवित रखने में कुछ उठा न रक्खा था। केवल अपने मित्र कार्ल मार्क्स की सहायता करने के लिए ही वह अपमान का घूँट पीकर अपने पिता की उसी मिल में काम करने पुनः चला गया था, जिसे मजदूरों के प्रति अपने पिता के अमानवीय व्यवहारों के विरोध में वह कभी छोड़ आया था।

सुरेश—तो यह कहो कि परिवार की चिंता इस समय तुम्हारे सामने सबसे बड़ा रोड़ा बन रही है ?

दिनेश—क्यों नहीं ! जिस परिवार को अपने रक्त से सींचकर मैं पाल-पोस रहा हूँ, उसी परिवार को जब मैं अभावों और कष्टों के बीच सिसकते देखता हूँ, तो मेरा कलेजा टूक-टूक हो जाता है। तुम नहीं जानते सुरेश, मिल-मालिक अब मुझे फूटी आँखों नहीं देखना चाहते। किसी भी क्षण मेरी नौकरी छीनी जा सकती है।

सुरेश—मैं सब सुन चुका हूँ। मिल-मालिक तुम्हारी गतिविधि से असंतुष्ट हैं। परन्तु उनके लिए यह स्वाभाविक है।

दिनेश—क्या स्वाभाविक है ? मजदूरों का शोषण करते रहना और मजदूर-संगठन को नष्ट करते रहना ?

सुरेश—यही नहीं, बल्कि मजदूर-संगठन का शङ्खनाद करनेवालों को भी नष्ट कर देना उनके लिए स्वाभाविक है।

दिनेश—तो मैं भी शपथ ले चुका हूँ कि जीवन की अन्तिम श्वास तक मैं इस समाज के अमानवीय तौर-तरीकों को बदलने में अपनी सारी शक्तियाँ लगाता रहूँगा।

सुरेश—लेकिन पारिवारिक चिन्ता की चट्टान कहीं तुम्हें बीच में ही चकनाचूर कर बैठी तब ?

दिनेश—चकनाचूर कर बैठे तब तो कोई चिता ही नहीं। उस दशा में यह संतोष तो रहेगा कि जीवन के अंतिम क्षण तक मैं अपने प्रयत्नों में लगा रहा। लेकिन यह पारिवारिक चिता मुझे अधमरा जो कर देती है और मैं डगमगा उठता हूँ, सुरेश ! बस, इसीसे बचने का कोई मार्ग मैं इधर कई दिनों से सोच रहा हूँ।

सुरेश—तो आज तुम्हें यह सुनकर प्रसन्न होना चाहिए कि मुझे वह मार्ग मिल गया है।

दिनेश—वह क्या ?

सुरेश—जो महाराणा प्रताप के भूतपूर्व मंत्री भामाशाह ने अपनाया था।

दिनेश—मालूम पड़ता है, तुम्हें जो पाँच हजार रुपया लाटरी में मिल गया है, उसे इसी तरह स्वाहा करना चाहते हो ?

सुरेश—लाटरी का टिकट मैंने इसी इरादे से लिया था दिनेश, कि रुपया मिल गया, तो तुम्हें पारिवारिक चिंताओं से मुक्त कर दूँगा, जिससे तुम निश्चित होकर मजदूरों का संगठन कर सको।

[दिनेश कुर्सी से उठकर सुरेश को अपने गले लगा लेता है।]

दिनेश—वास्तव में तुम जैसा मित्र पाकर मैं महाराणा प्रताप जैसा ही अपना सौभाग्य समझता हूँ। अब मैं निश्चिन्त होकर मजदूरों के संगठन का शंखनाद कर उनका सच्चा मार्ग-दर्शन कर सकूँगा।

सुरेश—हाँ, अब तुम निश्चिन्त होकर मजदूरों की सेवा में लग जाओ और करुणा बेटी की चिकित्सा भी कराओ। (जेब से कुछ निकालते हुए) यह लो, पाँच हजार का चैक। अच्छा, अब मैं जाता हूँ।

[सुरेश का प्रस्थान और दिनेश का एक हाथ में चैक लिये हुए सुरेश की तरफ एकटक देखते रहना।]

पर्दा

चिनगारी

पात्र-परिचय

मेनका—एक तरुण नर्त्तकी
दिलरुबा—मेनका की सहनर्त्तकी
गौरा—मेनका की परिचारिका

स्थान : कलकत्ता की धरमतल्ला स्ट्रीट पर अवस्थित पाँच मंजिल की एक गगनचुम्बी कोठी की पाँचवीं मंजिल पर मेनका के रहने का एक आलीशान कमरा।

समय : सन्ध्या।

[कमरे के प्रवेश-द्वार पर एक रेशमी रंगीन पर्दा लटक रहा है। कमरे के भीतर एक बढ़िया सोफा-सेट रक्खा हुआ है। सोफा-सेट के सामने ही शीशम की एक छोटी-सी मेज रक्खी है, जिस पर काँच का पारदर्शी आच्छादन मढ़ा हुआ है। मेज पर एक फाउण्टेन-पेन और बढ़िया लैटर-पैड रक्खा हुआ है।

दीवारों पर देशी-विदेशी फिल्म-अभिनेत्रियों के अनेक मोहक चित्र लटक रहे हैं। एक दीवार पर मेनका का चित्र भी आकर्षक मुद्रा में लटक रहा है।

कमरे के चारों कोनों में शीशम की लम्बी तिपाइयों पर संगमर्मर की अर्द्धनग्न-सी नारी-मूर्त्तियाँ मुसकरा रही हैं।

एक सोफे पर मेनका अधलेटी-सी बैठी हुई विचारमग्न है। प्रसन्नता उसकी मुद्रा पर नाच रही है।

सहसा बाहरी दरवाजे पर लगी 'काल-बैल' के बटन को कोई दबा देता है और कमरे के भीतर उस घण्टी की टनटनाहट होने लगती है।]

मेनका—(सोफे पर बैठे-बैठे ही दरवाजे की ओर देखते हुए) कौन है ?

दिलरुबा—(बाहर खड़े-खड़े ही) मैं हूँ दिलरुबा !

मेनका—फिर चली क्यों नहीं आतीं भीतर ?

दिलरुबा—(कमरे में प्रवेश करते हुए) मैंने सोचा, बिना सूचना दिये किसी तरुणी के कमरे में प्रवेश करना असभ्यता का सूचक होगा, इसलिए......

मेनका—(सोफे पर सीधे बैठते हुए) इसलिए तुमने 'काल-बैल' का बटन दबा दिया ! यही न, दिलरुबा ?

दिलरुबा—(एक कुर्सी पर मेनका के निकट बैठते हुए और सिर हिलाते हुए) हाँ, बिलकुल यही बात।

मेनका—लेकिन किसी तरुणी के कमरे में बिना सूचना दिये किसका प्रवेश असभ्यता का सूचक माना जाता है, यह भी तुम नहीं जानतीं ?

दिलरुबा—जानती क्यों नहीं ? यह असभ्यता पुरुषों के लिए सुरक्षित है !

मेनका—तो क्या 'काल-बैल' का बटन दबाते समय तुम अपने-आपको पुरुष समझ बैठी थीं, दिलरुबा ? (मुसकराते हुए) यदि यह बात हो, तो मैं तुम्हें......

दिलरुबा—(बीच में ही टोकते हुए) कान पकड़कर इस कमरे से बाहर कर दूँ !

मेनका—अवश्य !

दिलरुबा—नहीं, ऐसी कोई भावना मेरे मन में नहीं उठी, मेनका।

मेनका—तब किस भावना ने ऐसा करने पर विवश कर दिया ? जब दरवाजा साफ खुला हुआ है, तब 'काल-बैल' का बटन दबाने का अर्थ ही क्या हो सकता है ?

दिलरुबा—आज तो तुम हाथ धोकर मेरे पीछे पड़ गई हो, मेनका ! अरे, इस तनिक-सी बात पर इतने सारे प्रश्नों की झड़ी लगा देने की आखिर जरूरत ही क्या है ? क्या किसी सहेली को अपनी दूसरी सहेली के साथ कोई हँसी-मजाक करने का अधिकार ही नहीं ?

मेनका—अधिकार क्यों नहीं है ? एक बार नहीं, सौ बार और हजार बार यह अधिकार तुम्हें है। लेकिन यही बात पहले कह दी होती, तो मैं क्यों इतने प्रश्न करती ?

दिलरुबा—अच्छा, यह तो बतलाओ, आज तुम सुबह से अब तक अपने कमरे से बाहर नहीं निकलीं शायद ?

मेनका—(सिर हिलाते हुए) ऊँ हूँ !

दिलरुबा—मुझसे भी मिलने या बात करने की इच्छा नहीं हुई ?

मेनका—ऊँ हूँ !

दिलरुबा—आज की कोई नई खबर ?

मेनका—ऊँ हूँ !

दिलरुबा—(अपनी कुर्सी से उठ, मेनका का कन्धा जोरों से झकझोरते हुए) पागल तो नहीं हो रही हो, मेनका ?

मेनका—ऊँ हूँ !

दिलरुबा—अब तुमने यह 'ऊँ हूँ' कहा तो...... (मेनका के गुलाबी गाल पर एक हल्की-सी चपत लगा देती है।)

मेनका—मैं यही चाहती थी, दिलरुबा !

दिलरुबा—(साश्चर्य) क्या चाहती थीं ?

मेनका—(मुसकराते हुए) यही चपत खाना !

दिलरुबा—(पुनः कुर्सी पर बैठते हुए) क्यों भला ?

मेनका—अपनी तबीअत !

दिलरुबा—अरे, वाह रे, अपनी तबीअत ! अब तक मैं समझ रही थी कि आज तुम बहुत गम्भीर हो; लेकिन देखती हूँ, आज तुम बेहद खुश हो, मेनका !

मेनका—खुश ! बहुत खुश ! (फिर कुछ गंभीर होते हुए) अच्छा, दिलरुबा; तुमने यह कैसे कह दिया कि मैं बेहद खुश हूँ ?

दिलरुबा—इसके लिए किसी जादू-मन्तर की जरूरत नहीं, बहिन ! तुम्हारा चेहरा बोल रहा है। फिर यह चपत खाने की जो बात तुमने कही, वह तो खास तौर पर तुम्हारे दिल की खुशी ही जाहिर कर रही है।

मेनका—तुमने मुझे कभी मुहर्रमी होते भी देखा है ?

दिलरुबा—यह तो मैंने कहा नहीं !

मेनका—तब यह कहो कि मेरी प्रसन्नता और दिनों की अपेक्षा आज कुछ अधिक है।

दिलरुबा—यही समझ लो ! लेकिन मेरा अन्दाज गलत नहीं है।

मेनका—(एक हल्की-सी आशंका के साथ व्यग्र होते हुए) क्या अन्दाज, दिलरुबा ?

दिलरुबा—होगा कुछ।

मेनका—बतलाओगी नहीं ?

दिलरुबा—(सिर हिलाते हुए) ऊँहूँ !

मेनका—तो मेरा ही अभिनय कर अब तुम मुझे 'परेशान करने का सपना देख रही हो। लेकिन मैं यों परेशान होनेवाली नहीं।

दिलरुबा—तब अन्दाज की बात पूछती ही क्यों हो ? बहुत खुश हो या कुछ अधिक, आखिर बात तो एक ही हुई न ?

मेनका—अच्छा, तुम्हारे अन्दाज की मैं दाद देती हूँ। अब तो खुश हो ?

दिलरुबा—सिर्फ दाद देने से काम न चलेगा।

मेनका—तो रसगुल्ले खाओगी ?

दिलरुबा—खाना भी चाहूँ, तो इस वक्त मँगवाने का क्या प्रबन्ध करोगी ?

मेनका—आम खाने से मतलब या पेड़ गिनने से ? मैं तो तुम्हें रसगुल्ले खिलाऊँगी।

दिलरुबा—अच्छा, तो मँगवाओ रसगुल्ले।

मेनका—फिर वही मँगवाने की बात ! (सोफे से उठकर दीवार में लगी आलमारी को खोलकर रसगुल्लों से भरी एक तश्तरी निकालती है और दिलरुबा के सामने मेज पर रख देती है) लो, खाओ रसगुल्ले।

दिलरुबा—नहीं खाऊँगी।

मेनका—(साश्चर्य) क्यों ? अभी तो कह रही थीं कि रसगुल्ले खाओगी,